व्रकाशक दी शमी ट्रेडिंग कम्पनी लोहार चौल, वम्बई २.



मुद्रक— चौधरी हुलासराय गुरुकुल-यन्त्रालयं गुरुकुल काँगड़ी

त्रादिल-ब्रह्मचारी स ह पिं ह या न न्ह्

के

चरणों में 📉 🎇

गंगा-तट के तपोवनों ने दिया विश्व को जो सन्देश.
जिस से जीत लिया देवों ने जरा-मरण का दुर्जय हेशा।
उसी महा-त्रत 'त्रहाचर्य्य' के मूर्तिमान मानव अवतार!
अगुपिवर! मेरी तुच्छ भेंट यह चरणों में करिये स्वीकार ॥
किल के इस विकराल काल में कल्प-यून के सुन्दर फूल
देव-लोक से लाकर तुम ने बरसा दिये यहाँ सुख-मूल।
उन में से ही कुछ ये चुंन कर, लाया मिक्त-भरा उपहार
अगुपिवर! अपनी वस्तु की जिये अपने चरणों में स्वीकार॥

—स. व्र.

विषय-सूची

विपय	वृष्ठ
१. भूमिका (श्री खामी श्रद्धानन्द जी द्वारा लिखित)	
२. लेखक का वक्तव्य	Ä
३. क्या यह विषय गोपनीय है ?	3
४. भेम की खिलती हुई कलियाँ!	१६
५. जनन-प्रक्रिया	४३
६. उत्पादक-श्रङ्ग	६३
७. किशोरावस्था, यौवन तथा पुरुपत	to
≖. 'इ न्द्रिय-नि ग्र हः ³	83
i. स्वाभाविक-जीवन	
ii, श्रस्वाभाविक-जीवन	
E. 'इ निद्र य-नि ग्र हः (श्रास्वाभाविक-जीवन) कि. भात्म-व्यभिचार]	33
	१५२
१९. 'इ निद्र य-नि ग्र हरः (श्रास्त्राभाविक-जीवन)	१६३
[ग. वेश्या-ध्यभिचार]	
	१७१
[घ.स्वप्न-दोष]	

१३. 'त्र हा च टर्य'	२०१
(वीर्य क्या है ? उस की महत्ता !)	
१४. 'ब्र ह्म च र्घाः—	. २१८
(वीर्य-रत्ता ही जीवन है, वीर्य-नारा ही मृत	यु है !)
१५. 'ब्र हा च टर्य'—	२२७
(ब्रह्मचर्घ्य के नियमों की वैज्ञानिक न्याल्य	n)
१६. जपसंहार	ર છે પ્ર
१७. सहायक-पुस्तक-सूची	्रधर
१८. इस पुस्तक पर कुछ सम्मतियाँ	२५४

ब्रह्मचर्य-सन्देश

प्रारम्भिक शब्द



[स्वामी चहुानन्द जी द्वारा लिखित]

घानकल की सभ्य कहानेवाली पाछात्य जातियों के पूर्वन निस समय प्रन्थकार में हाय से रास्ता टरोल रहे थे श्रीर श्रपने संग को वन्त्र से दींपना तक न जानते थे उस समय श्रायीवर्त में 'बलनर्घ' विषयक ज्ञान थपनी नरम सीमा तक पहुँच चुका था। मानतीय विकास के लिये ब्रह्मचर्य श्रत्यावस्यक समभा जाता या, विचार तया क्रिया में विवाह को एक धार्मिक संस्कार समभा जाता था श्रोर सन्तानोत्पत्ति गृहस्य के तीन ऋणों में से एक ऋ्ण समका गया या । बृहदार्णयकोपनिषद् में गर्भावान-विधि को श्रत्यन्त पवित्र यज्ञ कहा गया है, इस के श्रनुष्टान के लिये श्यनेक नियमों की शृंखला बाँध दी गई है। मैक्समूलर नेसे उच-कोटि के विद्वान् ने उक्त स्थल का श्रांग्लभाषा में श्रनुवाद नहीं किया क्योंकि उस का विचार या कि वर्तमान सभ्य कहानेवाले गन्दे संसार के लिये व विचार इतने उच हैं कि उन का महत्व उस की समभा में नहीं था सकता।

व्रह्मचर्य्य के महत्व को समभाने के लिये गुरुप तथा श्रमेरिका को पर्याप्त समय लगा है। थोड़े समय से वहाँ के विज्ञान तथा चिकित्सा से परिचय रखनेवाले विद्वानों ने श्रनुभव

करना प्रारम्भ किया है कि ब्रह्मचर्य्य की नींव पर ही व्यक्ति तथा जाति के भीवन की भित्ति का निर्माण किया जा सकता है। पश्चिम में हरेक को विचारों की श्राजादी है। उसी का परिणाम है कि इस थोड़े से अरसे में इस विषय में उन्हों ने अपने वैज्ञानिक श्रनुभवों तथा श्रन्वेपणों के श्राधार पर एक नवीन विद्या की भी श्राधार शिला रख दी है, जिस का नाम 'युजेनिक्स' (सन्तति शास्त्र) है । 'ब्रह्मचर्च्य' एक व्यापक शब्द है जिस में 'युनेनिक्स' मी शामिल है । वेदों के श्रादेश के श्रवसार यह मानवीय जीवन ं का प्रथम सोपान है, श्रौर यही उन्नति के मार्ग पर मनुप्य समान का पथ-प्रदर्शक है। इस ग्रुग में सब से प्रथम ऋषि द्यानन्द ने श्रंगुली उठा कर वर्तमान सभ्यता की जड़ में लगे हुए घुन की तरफ़ निर्देश करते हुए वाणी तथा श्राचरण द्वारा वतलाया था कि शारीरिक, मानसिक एवं श्रात्मिक ब्रह्मचर्य्य द्वारा ही मनुष्य-समान की रक्ता हो सकती है। श्रान पाध्यात्य विद्वान् अपि ं दयानन्द के ब्रह्मचर्य्य विषयक एक-एक शब्द की दाद दे रहे हैं।

मेरे शिष्य प्रो॰ सत्यवत सिद्धान्तालंकार ने विद्यार्थी-समाज के लिये 'ब्रह्मचर्ध्य-सन्देश' को लिख कर मातृभूमि की महान् सेवा की है। गुरुकुल विश्वविद्यालय, काँगड़ी, के श्राचार्ध्य की हैसियत से मुम्ने पूरे १४ वर्ष तक सैंकड़ों वालकों के जीवन के निरीच्ता तथा सञ्चालन का उत्तरदायित्व-पूर्ण अधिकार प्राप्त रहा है। मेरा श्रमुमव है कि प्रत्येक युवक की १३ से १८ वर्ष तक की श्रवस्था अत्यन्त नाजुक होती है, परन्तु यदि श्राचार्थ्य कुरालता-पृश्य इस समय के ज़तरों में से उसे निकाल ले जाय तो बालक का जीवन विगड़ने के स्थान पर शारीरिक तथा मानसिक शक्ति का ज़ज़ाना बन जाय। 'ब्रह्मचर्ध्य-सन्देश' जैसी प्रस्तकों के प्रधार से बालकों का श्रत्यन्त उपकार हो सकता है परन्तु बास्तिविक कार्य तभी होगा जब श्राचार्य की देख-रेख में रहते हुए ब्रह्मचरियों का जीवन गहा जायगा।

व्रस्तर्य के सन्देश को सुनने थौर सुनाने के लिये दैनीय प्रेम तया पिनन्नता का वातावरण होना चाहिये । मैंने खर्य इस वियय में विद्यार्थियों को धनेक उपदेश दिये हैं । जब तक मन को शुद्ध कर इन उपदेशों को न सुना जाय तब तक इन से लाभ के स्थान पर हानि होने की भी सन्भावना रहती है । इसलिये इस प्रस्तक के पदनेवालों के प्रति मेरी सलाह है कि इस के पत्ने पलटने से पहले मन में पिन्नता तथा नम्नता के भाव भर लें । विश्व-विवायक देवमाता को ध्रपने हृदय में प्रतिष्ठित कर के, श्रीर यदि यह सम्भव न हो तो ध्रपनी प्रेममयी जननी जिस की गोद में खेलांत-खेलांत कई वर्ष विता दिये उस का ध्यान कर के, पिन्न तथा देवीय वातावरण में इस प्रस्तक को हाथ लगाएँ ।

गुरुकुल छोड़ने के बाद, सन्यास में प्रविष्ट होते समय, मेरा विचार था कि ब्रह्मचर्य विषयक अपने धनुभवों को देश के विद्यार्थी-समाज तक पहुँचाऊँ । परन्तु 'मेरे मन कछु छोर है विधना के मन छोर'— में अपने वास्तविक मार्ग से हट कर सामिथक घटनाओं की उल्लेशन में पड़ गया । इस समय भारत के विद्यार्थी- समाज की सब से बड़ी ज़रूरत यही है कि रहतुमा बन कर उस के वैय्यक्तिक जीवन को ठीक मार्ग पर चलाया जाय। में भारत के स्कूलों तथा कालेजों के अध्यापकों एवं आचार्यों से कहना चाहता हूँ कि वे अपने धर्म को पहचानें— स्वयं ब्रह्मचारी वनें ताकि अपने छात्रों को ब्रह्मचारी बना सकें। वेट भगवान का कयन है:—'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिण मिच्छते'— ब्रह्मचर्य्य धारण कर के ही आचार्य छात्र को ब्रह्मचारी बना सकता है। मेरी यही हार्दिक प्रार्थना है कि 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' स्वरूप वाले भगवान मातृभूमि के आचार्यों तथा शिष्यों को ज्योति-स्तम्म होकर कर्तव्य-मार्ग प्रदर्शित करें।

जन्म-शताञ्दी-कैम्प मथुरा २८ जनवरी, १६२४]

श्रद्धानन्द् सन्यासी

लेखक का वक्तव्य

सृिप द्यानन्द की जन्म-राताञ्दी को हुए तीन साल बीत गये।
राताञ्दी के उपलज्ञ में बहुतों ने अपनी-अपनी भेंट अगि के चरणों
में धरीं। मैंने सोचा, में किस उद्यान से, कौन सा फूल, अपने
देवता की आराधना में रख़ूँ ? अभी दुविधा में ही पड़ा था कि
आचार्य श्रद्धानन्द ने देवलोक के कुछ सुरभित पुष्पों को मेरी
अंगली में डाल कर कहाः—''बेटा, ले, 'ब्रह्मचर्य्य' के इन फूलों
को अपने देवता के चरणों में रख दे।'' आचार्य के दिये हुए
फूलों से मैंने अपने देवता की पृजा की और मेरे देवता ने उन
फूलों को सर्वत्र बखेर देने का आदेश किया। 'ब्रह्मचर्य्य-सन्देश'
की यही आत्म-कहानी है।

शताञ्दी के अवसर पर यह अन्य आंग्लभापा में लिखा गया। अपने दंग का यह पहला ही अन्य या, इसिलये ज्ञात न था कि इस का जनता में केसा स्वागत होगा। अंग्रेज़ी में दो हज़ार प्रतियाँ छपवाई गई थीं, व सब निकल गई, और इसे दोवारा प्रकाशित करने का प्रश्न उपस्थित हुआ। इस समय तक मेरे पास सेंकड़ों पत्र इक्दे हो गये थे। सब कहते थे कि इस प्रस्तक ने उन की आँखें खोल दी हैं। परन्तु उन की शिकायत थी कि यह प्रस्तक बचपन में ही उन के हाय क्यों नहीं पहुँची, और साथ ही वे लिखते थे

कियदि वचपन में ही उन्हें यह पुस्तक मिलती तो शायद आंग्लभापा न समभाने के कारण उन के पल्ले कुछ न पहता । सब की तान इसी पर टूटती थी कि यह पुस्तक हिन्दी में होनी चाहिये । कई पिताओं की चिष्टियाँ श्रायीं, यदि इस का हिन्दी-रूपान्तर हो जाय तो वे उसे अपने पुत्र के हाय में देना चाहते हैं; कई भाईयों की चिड़ियां त्रायीं कि यदि यह प्रस्तक हिन्दी में हो तो वे इसे अपने छोटे भाई को भेट करना चाहते हैं। मेरे पास इतने पत्र पहुँचे हैं कि मेरा विश्वास हो गया है, इस प्रान्तक की हिन्दी जनता को ज़रूरत है। श्रंप्रेज़ी की प्रान्तक वकीलों, डाक्टरों, विरिस्टरों, श्रध्यापर्को तथा उचकत्ता के हात्रों के हार्यों में ही पहुँची है । उन की यह निश्चित सम्मति है कि जिस ढंग से इस पुस्तक में ब्रह्मचर्य्य के विषय को खोला गया है वह अत्यन्त उत्कृष्ट-कोटि का है । ब्रह्मचर्घ्य पर हिन्दी में कई पुस्तकें हैं परन्तु जिस पुस्तक में युवकों के एक-एक प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया गया हो ऐसी प्रस्तक एक-श्राघ ही होगी। 'ब्रह्मचर्य बड़ी श्रव्छी चीन है!--इतना कह देने मात्र से युवकों को दुछ समफ नहीं पड़ता। उन के मस्तिष्क में अस्पप्ट-से विचार घूमने लगते हैं। जिन मित्रों ने मेरी श्रंग्रेज़ी की पुस्तक पढ़ी है उन का कहना है कि उस पुरतक से उन्हें बहाचर्य्य के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है ; भाषा को छोड़ दिया जाय तो भी उन के पल्ले कुछ वच रहता है। उन्हीं मित्रों के त्राप्रह से ब्राज यह पुस्तक हिन्दी-भाषी जनता के सन्मुख रखने की धृष्टता कर रहा हूँ। इस पुस्तक में ब्रह्मचर्च्य

के गीत गाने में कुछ कार नहीं छोड़ी गई, परन्तु उन गीतों के साय-साय उस के वैज्ञानिक स्वरूप पर भी विस्तृत विचार किया गया है, उस के हरेक पहलू पर प्रकाश डाला गया है। गुजराती तया मराठी में इस प्रस्तक का रूपान्तर हो चुका है। इस प्रस्तक में श्रंप्रेज़ी की प्रस्तक से बहुत कुछ ज्यादह है। में चाहता या कि गुजराती तया मराठी के श्रव्यादक कुछ देर टहरते और श्रंप्रेज़ी से श्रव्याद करने की श्रपेज्ञा मेरी हिन्दी प्रस्तक से श्रव्याद करते। परन्तु उन्हें जलदी थी। में चाहता हूं इस प्रस्तक का भारत की सब भाषाओं में श्रव्याद हो जाय और १२-१४ वर्ष की श्राग्रु के प्रत्येक बालक के हाय में यह प्रस्तक पहुँच। इस प्रस्तक का दूसरी भाषाओं में श्रव्याद करने की सब को खुली छुट्टी है।

यह 'सन्देश' इस युग के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का 'सन्देश' है। उसी सन्देश को आधार में रख कर, उसे प्रष्ट बनाने के लिये पाधात्य विद्वानों के प्रन्यों से सहायता लेने में संकोच नहीं किया गया। इस में जो कुछ है वह दूसरों का है; वस, भाषा मेरी तया दृष्टिकोण ऋषि द्यानन्द और आचार्य श्रद्धानन्द का है।

इस पुस्तक के लिखने में पं० कृष्णादत्त जी आयुर्वेदालंकार, फेज़ावाद, ने बहुत सहायता पहुँचाई है । सारीर-शास्त्र के अध्यायों का उल्या तो प्रायः उन्हीं का किया हुआ है । पं० शंकरदत्त जी विद्यालंकार ने इस पुस्तक के प्रकाशन में बड़ी सहायता की है। उक्त दोनों भाईयों का हार्दिक धन्यवाद है। यदि इस पुस्तक से एक स्मी आत्मा के उत्थान में सहायता मिलेगी तो में अपना परिश्रम सफल समक्त्रांग क्योंकि एक चेतन आत्मा इस अखिल जड़ जबन् से अधिक मूल्यवाला है!

सत्यत्रत सिद्धान्तालङ्कार

ब्रह्मचय सम्देश —

प्रथम ज्ञाह्याय

क्या यह विषय गोपनीय है ?

साय न जाने कितने गन्दे विचार हमारे दिमागृ में जा पहुँचते हें ग्रौर न जाने कितने ही ग्रौर, भीतर प्रविष्ट होने की तैयारी करने लगते हैं । नन्हे-नन्हे त्रालकों का मस्तिष्क तथा हृदय कोमल कोंपलों के फूटने और मुरभित कुसमों के खिलने से उछिसत होने वाले नवयोवन में ही दुर्गन्धयुक्त कीचड़ से भर जाता है। श्राट या दस वर्प के वालक के चेहरे को देखने से कुछ पता नहीं चलता परन्तु उस के बन्द हृदय-कपाट को खोल कर देखा जाय तो अन्दर एक भट्टी धधकती नज़र आती है जिस की लपटों से-जो थोड़ी ही देर में प्रचएड रूप धारण कर लेंगी--वह बालक मुलसन वाला होता है। वह नहीं चाहता कि उस के 'भीतर' भाँका नाय । इस का विचार ही उसे कंपा देता है, नख से शिख तक हिला देता है। वह जानता है, उस के भीतर कीचड़ की

दलदल जमा हो रही है, भस्म कर देने वाली श्राग सुलग रही है। किसी श्रज्ञात प्रेरणा से वह किसी को श्रपने श्रन्तः करण में माँकने नहीं देता—परन्तु फिर भी इकला बैट कर वह भीतर के इन्हीं छिपे हुए पर्दों को उठा-उटा कर उन की माँकियाँ लिया करता है, भीतर जमा किये 'गुप्त-रहर-यों' को उलट-पलट कर देखा करता है।

हाय वे 'रहस्य' ! वे गुप्त-रहस्य ही तो वालक की आत्मा को चाट जाते हैं। प्रारम्भ में वह इन रहस्यों को समन्मना चाहता है। श्रपने दो-चारे हमजोलियों से कुछ पृछता है, पर वै कनिखयाँ चलाते और शैतान की हाँसी हास देते हैं। जो इन 'रहस्यों' को रहस्य न समभे वह भोला; उस का मज़ाक उड़ता है; उस उल्लू वनाया जाता है । चारों तरफ़ का समाज गन्दा है-श्रत्यन्त गन्दा । इन रहस्यों को रहस्य कह कर उन्हें दबाया नहीं जाता, मिटाया नहीं नाता, परन्तु अह को अंगूठा दिखा देनेवाले उपायों से, समाज की गोद में पलनेवाले हरेक वच्चे के गले के नीचे उतारा जाता है। वही भोला वालक जो कुछ समय पहले रहस्यों से कोरा या समय गुज़रने पर यारों की महफ़िलों में 'छंटा हुआ' गिना . जाता है। गुप्त वार्ते न जाने किस गुप्त रूप से उस के दिमाग़ को भर देती हैं। शान्त प्रकृति चन्नल हो उठती है, ग्राग में लपटें उठने लगती हैं, समुद्र में ज्वार श्रा जाता है।

समान कहता है,यह विषय गोपनीय है। माता-पिता कहते हैं, चुप रहो, इस पर एक शब्द भी हमारे वेटे के कान में मत डालो। श्रध्यापक लोग वालक को स्पष्टरूप से कुछ नहीं कहना चाहते। वालक के हृद्य में प्रकृति की प्रत्येक वस्तु को देख कर उत्सुकता उत्पन्न होती है, इन 'गुप्त-रहस्यों' के विपय में भी उसे उत्स्वकता सताने लगती है। परन्तु वह देखता है कि इस विषय की कोई वात भी उस के होटों पर आने से पहले ही उस का गला घोंट दिया जाता है। 'चुप रहो, आगे से इस बात को ज़वान से मत निकालो !'—चारों तरफ़ चुप्पी, चुप्पी ! सत्र स्वाभाविक रास्ते चन्द्र देख कर वालक अपने रास्ते स्वयं निकाल लेता है। यह चुप्नी बोलने से भी ज्यादह तत्राही मचा देती है । माता-पिता के, अञ्चापकों के, गुरुओं के त्रिना सिखाये नालक नहुत कुछ सीख़ जाता है-योड़े ही समय में इतना सीख जाता है जिसे मुलाने के लिये एक जन्म तो क्या कई जन्म भी काफ़ी नहीं हो सकते । वह जो कुछ सीख जाता है उसे देख कर माता-पिता सिर धुनते हैं, गुरु लोग श्राँसू वहाते हैं श्रीर उस का जीवन खिले हुए फूल की पंखड़ियों को मसल देने के समान मुरभा जाता है।

तो फिर, क्या यह विषय सचमुच गोपनीय है ? क्या दोस्तों का खिल्ली उड़ाना, माता-पितायों का ब्रॉंखें दिखाना, गुरुओं का मोन साध नाना—यह सब कुछ उचित है ?

में तो नहीं समम सकता कि इस विषय को इतना गोपनीय क्यों माना जाता है। श्रफ़सोस तो यह है कि इसे गोपनीय होने के साय गन्दा भी सममा जाता है! हम लोगों की समम में न जाने यह क्यों नहीं श्राता कि मानव-शरीर में जिस प्रकार

फेफड़े, जिगर और पेट हैं, और उन्हें अपना-अपना काम करना होता है, उसी प्रकार मनुष्य-शरीर में उत्पादक अवयव हैं। मनुष्य के शारीरिक श्रंग सभी पवित्र हैं, सभी उपयोगी हैं, श्रौर प्रत्येक श्रंग के उचित उपयोग का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिये त्रावश्यक है। इन अंगों को, और इन के सम्बन्ध में चर्चा को, गोपनीय तथा गन्दा इसीलिये समभा जाता है क्योंकि दुध्वरित्र लोगों ने इन अंगों का दुरुपयोग किया है। शरीर के इन पवित्र श्रंगों के विषय में चर्चा करते ही उन की स्मृति में विषय-वासना से सनी हुई तस्वीरें चक्कर काटने लगती हैं । उन की विचार-धारा गन्द की नाली में वहा करती है। परन्तु क्या इस विषय की चर्चा सचमुच गन्दी-चर्चा है ? तो फिर, सृष्टि की ग्रान्य वस्तुर्ग्नों की चर्चा गन्दी-चर्चा क्यों नहीं ? ऐसे व्यक्तियों से पूछो कि वे श्राँख तथा कान की चर्चा करते हुए क्यों नहीं शर्म के मारे चुल्लू भर पानी में डूब मरते, गुरुत्व तया वर्षा के नियमों पर वहस करते हुए क्यों नहीं लजाते, क्यों वे शारीरिक पवित्रता के सम्बन्ध में कही गई उन वातों को, जिन्हें वे भूल से छिपी हुई सममते हैं, सुन कर सिर नीचा कर लेते हैं, उन्हें गन्दा कहते और उन से अपनी सन्तान को बचाने की कोशिश करते हैं ?

यदि नवयुवक इस चर्चा से कतई अनिभज्ञ हों तो निस्तन्देह प्रश्न हो सकता है कि इन वातों के ज्ञान से कहीं भलाई के स्यान पर बुराई तो नहीं हो जायगी। परन्तु जब हम अपनी आँखों से नवयौवन की सरलता को उदीयमान प्रभात में ही प्रसा हुआ देखते हैं, त्रचपन की सफ़ेद चादर को कल्पना रहित काले धब्बों सं रंगा हुआ पाते हैं तो सहसा मुख से निकल पड़ता है: 'क्या इस चुप्पी से हम पाप के भागी तो नहीं वन रहे ? कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारा मौन लाखों निस्प्तहाय नवयुवकों को निराशा के श्रयाह गर्त में धकेल दे श्रौर फिर उन के उद्धार की कोई श्राशा ही न रहे। ' संसार के सम्पूर्ण विज्ञ-समुदाय की इस विषय में एक मित है । उत्पादक-श्रंगों के सम्बन्ध में वालक कहीं न कहीं से ज्ञान पा ही जाता है। या तो उस की दिनोंदिन बढ़ती हुई उत्सुकता को शुद्ध, पवित्र स्रोत से शान्त कर दिया जाय, नहीं तो त्रादम त्रोर हन्त्रा की सन्तान रोतान से सन कुछ सीख ही सकती है! क्या ही अच्छा होता यदि, पशुत्रों की तरह, मनुष्य को भी विना सिखाये स्वयं ही इन विषयों का निसर्ग द्वारा ज्ञान हो जाता । परन्तु मनुष्य और निसर्ग ! नैसर्गिक ज्ञान होने का समय भी नहीं त्राता कि मनुष्य सब कुछ सीख़ जाता है, त्रौर उस के सीखने का माधन सदा गन्दा-श्रत्यन्त गन्दा-होता है। वह बहुत कुछ श्रपने श्राचार-भ्रष्ट सायियों से सीख जाता है, बहुत-कुछ समाज में चले हुए हँसी-मखौलों से सीख जाता है श्रौर बहुत-कुछ छ।पेख़ाने की मेहरवानी से दिनोंदिन वढ़ रहे अशलील साहित्य से, श्रश्लील चित्रों से, सीख जाता है।

यह नभोमग्रडल न जाने कितने नवयुवकों के हृदय-वेधी आर्तनादों से ज्याप्त हो रहा है। कितनों की प्रकार आस्मान को फाड़ २ कर उठ रही है: 'हाय, क्या ही अच्छा होता, यदि पहले

कुछ पता लग गया होता ! ' जत्र से मेरी 'ब्रह्मचर्य्य' विषयक श्रंप्रेज़ी की पुस्तक नवयुवकों के हायों में पहुँची है तभी से लगातार मुभे पत्र त्रा रहे हैं। युवक-मगडली तरस रही हैं। मुभे पत्र . त्राते हैं: 'त्राप की पुस्तक ने मुभे बचा लिया होता यदि दो साल पहले यह मेरे हाय पड़ गई होती ।' मैंने ऐसे नवगुवकों को उत्तर देते हुए सदा यही लिखा है: " ऐ मेरे नौ-नवान दोसत! यदि तेरे वे दिन गुज़र गये हैं, तेरे कन्धों पर निराशा का त्रोक्त लाद कर सदा के लिये गुज़र गये हैं, तो भी पहा भाड़ कर उठ खड़ा हो-वीती को निसार दे और श्रागे की चिन्ता कर। जीवन को नये सिरे से शुरु कर दे। याद रख-जो नयी काया पलटना चाहते हैं उन के लिये 'देर' राब्द का छुछ अर्य ही नहीं है। यदि तुभे पता लगं गया है कि जीवन के इन आवश्यक नियमों के उल्लंघन का दुष्परिणाम क्या होता है तो श्रपने श्रातुभव का सदुपयोग कर । यदि तु श्रभी चढ़ती जवानी में है तो अपने से वड़ों के जीवन की पाठशाला में सीखे हुए अनुभवां से फ़ायदा उठा । ये अनुभव अनमोल हैं ।"

प्यारे नौजवान ! मानव-समाज के इन अनुभवों को में तुभ तक पहुँचाना चाहता हूँ । इस प्रस्तक में मनुष्य-जाति के ब्रह्मचर्य्य विषयक अनुभवों का सन्देश है । मैं इस उत्तरदायित्व-पूर्ण वोम्म को हाय न लगाता यदि तेरे बड़े, तेरे माता-पिता और गुरुजन, तेरे प्रति अपने कर्तव्य को समम्मते और हाय में मशाल लेकर तेरे जीवन-मार्ग में पड़नेवाले गढ़ों से तुभे सावधान कर देते । परन्तु अफ़सोस ! उन्हें इस काम के लिये न फ़रसत ही है, न वे इस के महत्त्व को ही सममते हैं। प्रत्येक नवयुवक की जीवन-नौका संसार के श्रयाह समुद्र में किसी श्रपरिचित तट की खोज में चली जा रही है, मार्ग में न जाने कितनी भयंकर चट्टार्ने समुद्र के जल से ढकी हुई छिपे हुए सिरों को उठाए लड़ी हैं जिन की एक ही टक्कर से नौका चकनाचूर हो सकती है। मैं यह दश्य श्रपनी श्राँखों से देख रहा हूँ, फिर क्यों न ख़तरे की घरटी बजा कर ऊँवते माँभी को जगाने की कोशिश करूँ ? ऐ नाविक! हुशियारी से पतवार को पकड़े रह, कहीं श्राँघी तुसे रास्ते से भटका न दे ; श्राॅंखें खोल कर अपनी किरती को खेये जा, कहीं समुद्र के गर्भ को चीरता हुआ नक तेरी नौका को निगल न ले ; सावधानी से चप्पू चलाये जा, कहीं चहानें तेरी नौका से टकरा कर उस के टुकड़े २ न कर दें ! सावधान—इस संकटमयी यात्रा में प्रतिचाण . सावधान । यह यात्रा लम्बी है-वहुत लम्बी है-शौर समय उतनी ही जल्दी उड़ता चला जा रहा है। इस यात्रा में तूने कहीं भी गुलती की तो देखना तेरे प्रमु का रचा हुआ यह सारा खेल बना-बनाया विगड़ जायगा।

द्वितीय ऋध्याय

प्रेम की खिलती हुई कलियाँ!

पुलिकत नहीं कर देती; प्यारी बहिन को देख कर किस का हृदय आनन्द के सोते में गोते नहीं खाने लगता; कहीं पर किसी आज्ञात व्यक्ति से चार आँखें होते ही किसे स्वर्गीय संगीतों की मधुर-ध्विन नहीं सुनाई पड़ने लगती? इसी को प्रेम कहते हैं!

प्रेम! अहो, यह कैसा मीटा शब्द है। किन और किसान, युना और युनती—सभी ने इस की मिटास में अपने को मुला दिया है। किस आत्मा में प्रेम की तड़पन न होगी; कोन सा हृदय प्रेम के रसमय गृद आर्लिंगन से निब्नत रहना चाहेगा; कोन सा अधर प्रेम के निद्धल चुन्नन के लिये अकुला न उठेगा। यह दो अचरों का छोटा सा शब्द निश्व की असीम शक्ति को अपने अन्दर केद कर नेटा हुआ है। यह एक अपूर्व जादू है। दो नरस का नन्हा सा नालक इसी के नन्धन से खिंचा हुआ, व्यानहारिक भाषा का एक शब्द भी न जानता हुआ, अपनी माता की रसभरी आँखों में से उस के अन्तः करण तक पहुँच जाता है; प्रेमिका इसी की शब्द रहित मीन भाषा में एक एक चितनन से प्रेमी के चित्त-पटल पर निजलियाँ चलाने लगती

है। प्रेम सीमाश्रों को लाँच जाता है, दीवारों को तोड़ देता है, खाइयों को भर देता है—यहाँ तक कि श्रपनी तपाने श्रीर गलाने की शक्ति से विश्व की विविधता को मिटा देता, एक रसता का श्रखण्ड स्वर्गीय साम्राज्य प्रथिवी पर स्थापित कर देता श्रीर जीवन को खोखले की जगह भरा हुश्रा, मुहताज की जगह समृद्ध तथा दु:खमय की जगह सुखमय बना देता है।

प्रेम-पुष्प की सुगन्य मादकता लिये होती है । इस की प्रथम कलिका का विकास ही कोमल वयस् के वालक को मत-वाला बना देता है। इस कमनीय फूल के बीजों को हृदय की उपजाऊ भूमि में बख़ेरने के लिये कोई देवदूत मौके की ताक में फिरा करता है और अनुकूल ऋतु के आते ही प्रेम के बीज वो देता है । वस, नवयुवक अपने वीस साथियों में से किसी एक को अपने हृदय में चुन कर उस की आराधना करने लगता है। अचानक उसे एक दिन साफ़-साफ़ मालूम हो जाता है कि वह स्कूल के अपने उस साथी की तरफ़ खिंच रहा है। स्कूल की छुट्टी का समय उसी के साथ त्रिताने को जी चाहता है। धीरे भीरे ऐसी इञ्झा उत्पन्न होने ज़गती है कि वह हर समय साय रहे । उस के चेहरे में एक ग्रद्भुत् त्राकर्पण् रहता है, वह सुन्दर है ! शरीर की सब शक्तियाँ उसी में केन्द्रित हो जाती हैं। उसे छोड़ने पर जी नहीं मानता । स्त्रप्त में वही दिखाई देने लगता है, जागते हुए भी जब वह समीप न हो तो उसी की प्रतिमा श्राँखों के सामने घूमती है। फिर जब कभी उस से कुछ देर के लिये

विद्योह हो जाता है तब अन्तरात्मा व्याकुल हो उठता है, मानो हृद्य उसी को हूँढ रहा हो, और उस के अचानक सामने आ जाने पर मनुष्य सहम-सा जाता है, मानो अपने को इस अर्थारता के लिये धिकारना चाहता हो। उस के मुख से निकला हुआ एक-एक शब्द आत्मा में उल्लास की गुद्गुदी-सी पेदा कर देता है, उस की तिरस्कार पूर्ण एक नज़र अर्थीर और पागल बना देती हैं, आशा की अन्तिम किरण को भी लुस कर देती है। युवंक को मालूम हो जाता है कि वह अब अपनी आत्मा का मालिक नहीं रहा। उस की आत्मा को किसी ने काबू कर लिया है, केंद्र कर लिया है— वह आनलिशल प्रेम में हूव गया है!

युरुप तथा अमेरिका में लड़के-लड़िकयाँ एक ही स्कूल में पढ़ते हैं और उन्हें घरेलू जीवन में भी आपस में एक दूसरे के सम्पर्क में आने का मौका बहुत काफ़ी मिलता है। लड़का किसी सुन्दर लड़की से प्रेम करने लगता है, दिनभर उसी के ध्यान में हूवा रहता है। भारत में सामाजिक बन्धनों के कारण लड़के-लड़िकयाँ अलग-अलग स्कूलों में पढ़ते हैं, उन्हें परस्पर मिलने का अवसर प्राप्त नहीं होता अतः यहाँ पर लड़का अपने साथियों में से किसी लड़के की तरफ़ ही खिच जाता है, उसी पर अपने 'प्राण न्योद्यावर' करने के लिये तैयार रहता है, उसे अपना 'अनन्यतम' कहने लगता है। परन्तु युरुप तथा भारत के विद्या-ियों के मनोभावों की यह विलक्षणता मौलिक नहीं है। लड़कों

का लड़कों से प्यार करना युरुप तया श्रमेरिका में भी कम नहीं . है। वहां पर लड़कों को लड़कियों के साय रहन का मौका मिल नाता है इसलिय लड़के-लड़कों की मैत्री वहाँ इतनी ज्यादह नहीं नितनी लड्के-लड्कियों की। लड़कों की श्रापस की यह घनिष्ठता प्रायः विवाह के बाद कम हो जाती है। प्रेम का यह साधारण-सा श्रभिनय प्रायः प्रत्येक वालक के विद्यार्थी-जीवन में खेला जाता है ; इस अभिनय में मन की क्रिक्चिन्मात्र भी कलुपता के न होते हुए कई 'प्रेमी' वनते हैं और कई 'प्रेमपात्र' ! परन्तु म्कूल के लड़कों का यह नाटक कुछ ज्यादह दिनों तक नहीं चल मकता । भोले, निष्कलंक जीवन की लहरों पर बने हुए चिण्क मनाभावों के ये बुद्बुदे शीघ्र ही फूट जाते हैं — दो ही चार दिनों में पुरानी दोस्तियाँ टूटती और नई बनती हैं, और इसी प्रकार लड़के-लड़कियों का वचपन का यही खेल चलता रहता है। क्यों पाठक ! भोले-भाले वालकों ध्रोर वालिकाओं का मनुदार-शरारत से भरा हुआ यह खिलवाड़ देखने में कितना मीटा लगता है ?

यदि यह खेल खेल ही रहे, और फिर टूट जाय, तो हैंस देन के सिवाय और कुछ करने या कहने की ज़रूरत न रहे। परन्तु कुछ ही दिनों के बाद लड़के खेल की अवस्या से आगे निकल जाते हैं। उन की आयु ज्यों-ज्यों बढ़ने लगती है त्यों-त्यों वे प्रेम के जादू में ज्यादह फँसने लगते हैं । भि-म'—इस दो अवस्यों के शब्द में उन्हें अचिन्तनीय, अवर्णनीय रहस्य दीख

पड़ने लगते हैं और इन रहस्यों के उद्यादन के साथ-माय उन के स्वच्छ, निष्कलंक मुखाकारा पर छुन्ण-वर्ण के गेय मंडराने लगते हैं। सरस-प्रेम जिस में से सरलता द्रपकर्ती थी नव-योवन के सञ्चार से उद्धान्त हो जाता है। वह 'वालक' का प्रेम नहीं रहता, 'युवक' का प्रेम हो जाता है, और इस प्रकार के दिशा परिवर्तन का प्राकृतिक कारण हैं। वह क्या ? मुनिये!

मनुष्य के मस्तिष्क के मुख्यतः दो भाग किय जा सकते हैं:—अगला तया पिछला । मस्तिष्क का अगला भाग 'बङ्ग-ंदिमाग्' (सैरिज़म) कहाता है श्रीर पिछला 'द्याटा-दिमाग्' (सैरिवेलम) कहाता है । 'वड़ा-दिमाग्' हमारी खोपड़ी में सव से अधिक स्यान घेरता है । यह आगे भौहों के पास से चल कर पीछे के उभरे हुए भाग तक फैला रहता है। यह दो अर्धवृत्तीं में वँटा रहता है- दाँए श्रोर तथा बाँए श्रोर । दोनों हिस्सों में, किसी के ज्यादह श्रोर किसी के कम, दराइं वनी रहती हैं। इंबे दिमाग के कुछ नीचे, गले के कुछ ऊपर, पीदे की श्रोर, 'छोटा-दिमागृ' एक कान से दूसरे कान तक फैला रहता है । यह भी बाँए तया दाँए दो अर्धवृत्तों में बँट कर मेरुद्राड जहाँ से शुरू होता है वहाँ उस के इर्द-गिर्द लिपटा रहता है। इस में भी द्राई वनी होती हैं। ये इराईं दिमागृ को भिन्न-भिन्न भागीं में वाँटती हैं और इन की गहराई दिमाग की ज्ञान की शक्ति को सुचित करती है । दोनों दिमाग मनुष्य की खोपड़ी में सुरित्तित रहते हैं जिस में उन्हें फैलने के लिये पर्याप्त स्थान मिलता है। बड़ा-

दिमाग्, श्रात्मा के श्ररीर में होने पर, पञ्चज्ञानेन्द्रियों के श्रनुभव किये हुए विषयों का साज्ञात्कार करता है, श्रयवा उन के श्रनुभव को सविक्लरक ज्ञान बना देता है। श्राँख देखती है, कान सुनता है, नाक सूंचती है, जिह्ना रस लेती है, त्वचा स्पर्श करती है-परन्तु यदि ज्ञान-तन्तुश्रों द्वारा इन इन्द्रियों के श्रतुभव बड़े दिमाग् तक न पहुँचें तो किसी प्रकार का प्रत्यज्ञ न हो। इसीलिये इन्द्रिय-ज्ञान का केन्द्र बड़ा दिमाग् माना गया है। छोटा दिमाग् घरेलु — गृह-सम्बन्धी-पृवृत्तियों का तया शरीर की मित्र-भित्र हरकतों को वश में रख़ने का काम करता है। इसी से पट्ठों की गति का नियमन, शरीर का वशीकरण तथा माता-पिता श्रीर कुटुम्बियों के प्रति थोड़े या बहुत प्रेम का सञ्चालन होता है। यदि छोटे दिमाग् को किसी प्रकार की हानि पहुँच जाय तो मनुष्य अपनी गारीरिक हरकतों को वश में नहीं रख सकता श्रीर चलते-फिरते श्रागं-पींछ गिरन तया डगमगाने लगता है । मादक पदार्थी का सेवन प्रायः छोटे दिमागु को ही प्रभावित करता है, इसीलियें शराबी श्रपनी गति को स्थिर नहीं रख सकता । प्रेम के भावों का सम्बन्य भी इसी दिमाग से है इसीलिये प्रेम के उनमाद में मनुष्य की श्रवत्या शरावी से किसी प्रकार अच्छी नहीं रहती। इस प्रकरण में हमें छोटे दिमाग पर ही विशेष ध्यान देना है।

छोटे दिमाग के, जैसा अभी कहा गया, दो काम हैं:— (१) यह सांसारिक प्रवृत्तियों का केन्द्र है। प्रेम-भाव, समाज-श्रेम, दाम्पत्य-स्नेह, वात्सल्य-भाव, मैत्री-भाव, गृह-निवासेच्छा, तत्परायंग्रता— सभी का सञ्चालन इसी से होता है। श्रीर, (२) इस का काम शरीर की भिन्न-भिन्न गतियों को दश में करना, उन्हें सीमित तथा नियन्त्रित रखना भी है। चलना, फिरना, बैठना, उटना, खड़े रहना, हाय ग्रुमाना, उँगलियों चलाना, उड़ना— इन सब का सञ्चालन भी इसी से होता है।

वचपन में छोटा दिमागृ सारे दिमागृ का बीमवाँ हिस्सा होता है परन्तु २५ वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते यह बद् कर सारे दिमागृ का सातवाँ हिस्सा हो जाता है।

जिस समय छोटा दिमाग् बद्ने लगता है उस श्रवस्था को कुमारावस्या कहते हैं । 'कुमार' शब्द का अर्थ है--'कुत्सित है मार जिस के लिये'--- अर्थात् जिस अवस्या में काम-वासना वालक के जीवन को नष्ट कर सकती है ! छोटे दिमाग के बढ़ने का नतीजा यह होता है कि जीवन में मारशक्ति—कामशक्ति—का सञ्चार होने लगता है। प्रेम की कलियाँ फूट पड़ती हैं, जीवन के रहस्यों, जीवन की गोपनीय वातों की तरफ कुमार तथा कुमारी का ध्यान अधिक आकर्पित होने लगता है। उस समय नीवन की जो अवस्था हो जाती है, भला वह किसी से डिपी है ? इस सूखे जीवन में नवीन रस की लहरें उमड़ पड़ती हैं। , खून जोश मारने लगता है । नस-नस एक अपूर्व शक्ति के सञ्चार से फड़कने लगती है। मनुज्य हवा में उड़ने लगता है। वह अपने को एक नई-ही दुनियाँ में पाता है। जवानी की शराव , के वह ऱ्याले पर प्याले चढ़ाने लगता है। ऐसा मज़ा उसे पहले

कभी न श्राया था, ऐसा स्वाद उस ने पहले न चला था । उस पर मस्ती छा जाती है श्रोर इस मस्ती में वह प्याले में भरी जवानी की शराव को वड़े-वड़े घूँट कर के पीने लगता है। थोड़ी ही देर में वह नशे से चूर हो जाता है, पागल हो जाता है!

कुमारावस्था की यह छोटी सी कहानी है। पन्द्रह-सोलह वर्ष के किशोर के जीवन में जवानी के छिपे हुए रहस्य उथल-पुशल मचा देते हैं। कामभाव की प्रथम जागृति आदम तथा हव्या के पुत्रों तथा पुत्रियों के हृद्र्यों में आँधी खड़ी कर देती है, और यदि इस वासना के घोड़े को संयम की लगाम से न कसा जाय तो यह आँधी बढ़ती २ तूफ़ान का रूप धारण कर लेती है, इस के सन्मुख जो कुछ आता है उसी को उड़ा ले जाती है। क्या धनी क्या निर्धन, क्या लड़का क्या लड़की, प्रलय मचा देने वाला काम-वासना का तूफ़ान जब एक वार भी उठ खड़ा होता है तब चारों तरफ़ सर्वनाश के चिन्ह दिखाई देने लगते हैं—अँधेरा, गर्द और बीमारी के सिवाय पीछे कुछ नहीं बचता। जब तूफ़ान निकल जाता है तब मृत्यु की शान्तमुद्रा जीवन पर एकाधिपत्य जमा लेती है।

कुमारावस्था में जीवन-रस वनना प्रारम्भ होता है। वच-पन से निकल कर किशोर वनते ही वालक के रुधिर में इस जीवनी-शक्ति का सञ्चार होता है। यदि यह जीवन-रस शरीर में खपा लिया जाय तो पट्ठे मज़बूत होते हैं, स्नायुओं में शक्ति भर जाती है, शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक गुणों का विकास होने लगता है; परन्तु यदि इस जीवन-रस का हास हो जाय तो जीवन शक्ति-हीन हो जाता है, भार वन जाता है! जीवन-रस पर मन का शात्कालिक प्रभाव पड़ता है। शरीर के पट्ठों को मज़-वृत करने की सोचते रहो तो यह रस उधर ही को गतिशील हो जायगा, उच्च मानसिक विचारों में दिन-रात विचरण करो तो यह शक्ति दिमाग को पृष्ट करने में लग जायगी। इस जीवन-रस को 'वीर्य' कहते हैं, 'रेतस्' कहते हैं। शास्त्रों में 'ऊर्वरेता' उसे कहा गया है जिस का वीर्य कभी स्विलित नहीं होता। आदित्य ब्रह्म चारी का जीवन-विन्दु नीचे की तरफ़ नहीं जाता। वह उपर ही उपनिषदों का यही आदर्श है। ब्रह्मचारी की आत्मा सदा परमात्मा में विचरती है और वह अपने जीवन-रस को आध्यात्मिकता के केन्द्र—मिनक्क—की तरफ़ ही प्रवाहित करता है।

मनुष्य की मानसिक शक्ति यदि शरीर के गठन पर लगी रहे तो वीर्य शरीर को वीर्यशाली बना देता है, यदि मानसिक शक्ति की सहायता से वीर्य को स्मृति-शक्ति के बढ़ाने में लगाया जाय तो स्मरण-शक्ति वीर्य-शालिनी बन जाती है और यदि इस मानसिक शक्ति का उपयोग काम-वासना को उत्तेजित करने के लिये किया जाय तो काम-वासना मड़क उठती है—ऐसी भड़क उठती है कि मनुष्य वासना-मय हो जाता है। छोटे बालक में जब काम की प्रवृत्ति इस प्रकार जाग उठती है तो वह पाल में द्वाये फल की तरह जल्दी पक जाता है; धीमे २ प्रदीप्त होने

वाले प्रेम के दीये में धमाके से आग भभक उठती है; प्रेम का मीठापन वासना के तीखेपन में बदल जाता है ; छोटी उम्र में ही वालक बड़ों की सी वातें करने लगता है। माता-पिता उस के इस अपूर्व बुद्धि-कौशल को देख कर अचरज करते, शायद कभी-कभी अपने ही को सराहते हैं, उन की समम में नहीं आतां, लड़का इतनी छोटी उम्र में इतना स्याना कैसे हो गया। उन्हें क्या मालूम, लड़के ने अपने स्यानेपन के लिये गुरु धार लिये हैं—वह रोज़ गलियों में फिर कर उन गुरुत्रों से शिवा-दीवा लिया करता है। वह कई वार्तों में असाधारण उत्साह दिलाने लगता, कई वार्तों से न जाने क्यों शर्माने लगता है। इस समय वालक के मस्तिष्क में प्रविष्ट हो कर कोई देख सके तो उसे पता चल जाय कि किन रहस्यों की गुत्त्यियों को मुलभाने में वह दिन-रात एक किये रहता है। उस के मन की सम्पूर्ण शक्ति कामुकता के संस्कारों को जगाती और उन्हीं में खेला करती है । उस का छोटा मस्तिष्क, जिस का पूर्ण विकास २५ या ३० वर्ष तक की त्रायु में होना चाहिये या ग्रभी से-दस, वारह वर्ष की ग्रायु से-वड़ने लग गया है श्रीर दिनोंदिन वड़ी तेज़ी से बढ़ता चला ना रहा है। अभी वह पढ़ना-लिखना बहुत कम सीख पाया है रहता है परन्तु गन्दे साथियों से उसे बचाने वाला कोई नहीं है। जिस समय उस का मस्तिष्क गन्दे संस्कारों में पोषणं पा रहा होता है उसी समय सकील खाना, मिठाई, खटाई, श्राचार, चाय,

काफ़ी और दूसरी गन्दी आदत मिल कर हमारी वर्तमान-अवस्था की समाज में पलने वाले लड़के-लड़की की कामाग्नि को भड़कान में घी की श्राहुति का काम करती हैं। मनुष्य का वसन्तमय • वचपन का जीवन ज्यों ही पल्लवित तया पुष्पित होने लगता है त्यों ही कोई ज्ञाततायी ज्ञाकर इस मुन्दर पींद को जड़ से उखेड़ डालता है। वह दुष्ट उस दिन की भी प्रतीचा नहीं करता जत्र यह पौदा वड़ा होगा, इस में कलियाँ लगेंगी, फूल खिलेंगे और सारा उद्यान उन की खर्गीपम सुगन्य से महक उठेगा, उन के भाँति २ के रंगों से चमक जायगा। श्रफ्सोस ! इस पीध की रचा करने वाला कोई माली नहीं दिलाई देता । माली हैं---परन्तु ऐसे माली जो इस के स्वाभाविक विकास को नहीं देख सकते, इसे जड़ से खींच कर एकदम बड़ा क़्रुना चाहते हैं, इस की कलियों को श्रपने कठोर हायों से खोल २ कर उन्हें खिलाना चाहते हैं। इस का परिणाम ? श्रोह ! इस का भयंकर परिणाम !! पोधे का तना टूट जाता है, उस की कांपल श्रोर कित्याँ कुम्हला जाती हैं। वालक का यौवन नष्ट हो जाता है श्रीर 'सर्वनारा' श्राँखें फाड़ २ कर उस के हृदय को कंपाने लगता है!

कुसंस्कारों से 'छोटा-दिमाग' श्रपना काम जल्दी २ करने लगता है। वालक वचपन में ही श्रादमियों की-सी वार्ते करने लगता है। जो वच्चे 'गुह्य-रह्स-यों' की श्रनुचित चर्चा करते रहते हैं वे जल्दी स्थाने हो जाते हैं। वे इन चर्चाश्रों के शिकार वन नातं हैं। ऐसे ही वच्चे हस्त-मेशुन, वेश्यागमन तथा अन्य गिहित कृत्यों की ध्वकती हुई आग में विल चढ़ नातं हैं। वाल- विवाह भी उन की अशान्त आत्मा को ठएड नहीं पहुँचा सकता। अरे भोलेभाले माता पिताओं! यह 'रहस्य'-रूपी राचस तुम्हारी समहाय सन्तानों को प्राप्त की तरह निगलता चला ना रहा है, उन्हें वचाओं। शायद तुम अपने 'वालक' को इतनी जल्दी 'मनुप्य' वनते देख खुश होते हो, उसे वारह वर्ष की उम्र में पचीम वरम के आदमी की तरह वार्ते करते देख दिल में फूले नहीं समाते हो, परन्तु याद रखो, यह तुम्हारी मूखता है। तुम्हारे मुकुमार वालक की आँखों के पीछे से भाँकने वाला 'मनुप्य' मनुन्य नहीं पर 'राचम' है—आशु-परिपकता का राचम है—नो उसे हड़प जायगा, उस के जीवन को नष्ट कर देगा।

में चाहता हूँ यह पुस्तक वालकों के हाथ में पहुँचे। में एक-एक अज़र इस भावना से लिख रहा हूँ जिस से वालकों को अपने कराटकाकीर्ण मार्ग में पगडएडी निकाल लेने का साहस हो जाय, अन्धेर में भी अपने लिये उनेला कर लेने की उन में शक्ति आ नाय। मेरे हृदय में कितनी प्रवल आकाँ जा है कि हर समय यह पुस्तक किसी-न-किसी वालक के हाथ में अवश्य हो। अरे वालक! इस वात-चीत का तरे जीवन के साय अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। सुन, यदि सम्हलना चाहता है तो सुन! जेसा में पहले लिख चुका हूँ, तू और तरे जैसे दूसरे सायी लड़कपन में किसी की दोस्ती में फँस जाते हैं।

. दुर्मीग्यवश यह घटना उसी समय होती है जन वालक जीवन के खतरनाक हिस्से में से गुज़र रहा होता है, यह हिस्सा कुमारा-वस्या का होता है, इस समय काम की प्रवृत्तियाँ धीरे २ जाग रही होती हैं। प्यारे वालक ! जीवन का यह समय वड़ा सुहा-वना होता है परन्तु साथ ही बड़े संकट का होता है। इसी समय तो अनेक वालक चरित्र अष्ट करने वाली अनेक वातों को पहली वार सीखने लगते हैं। यह सोचते हुए हृद्य को दुःख होता है, परन्तु उस से क्या, यह सच तो है, कि इसी समय पवित्रता अपने मुख पर कालिख पोत लेती है ; कोमल, सरल त्रात्माएँ कुटिल, कुत्सित साँप-सी वन जाती हैं ; सुन्दर त्रीर भोले वालक मनुष्य के ब्रावरण में शैतान हो जाते हैं। फ़रिश्ते को शैतान में बदलते देख कर हृदय से दु:खभरी गर्म 'ब्राहं' निकलती है, श्राँखों से श्राँसू टफ़ते हैं, क्योंकि गिरते हुए को इस समाज में सभी धक्का देकर और जल्दी गिराने की कोशिश करते हैं उसे सहारा देने वाला कोई नहीं मिलता । वह ऐसा गिरता है कि डठना असम्भव सा नान पड़ता है । इस प्रकार नो दुर्धारित्रता तया पाप के पंक में निमान होने लंगता है, कभी उस की अव-स्या पर विचार कर के तो सोचो ! 'मदाचार' शब्द उस के शब्द-कोश में से मिट जाता है—वह अपने किये का, और माता-पिता तथा साथियों की भयंकर भूल का शिकार वन जाता है। समय त्राता है जब कि उस के पाप उसी तक सीमित नहीं रहते । अपना सर्वनारा कर अब वह अपने शिकार की खोज में

निकलता है। निकारी नाल विद्या देता है, हरिन तथा ज़रगोश फॅम नाने हैं। उसे विश्व का संनालन करने वाले भगवान का शासन नहीं दिलाई देता ; वह उस के एक २ नियम को तिनका मनना बर तोड्ने लगता है। परन्तु कवतक ? इम नशे से जगाने के निये देवीय कोप उस शभागे पर उनल पड़ता है। उस के दोहर पापों के लिये उसे ऐसा तट्पाया जाता है जिसे देख पार के मन्मूने बान्धने वाले दांतीं तले उंगली दवाने और आगे रग्वे हुए कदम को पीदं फेर लेते हैं। दोहरे पाप—हां, दोहरे पान ! एक पाप तो ने जो उस ने अपने निश्च को तबाह कर के वित्ये होने हैं थीर दूसरे वे जो उस ने निर्देश यात्मार्थी को शपनी पाराविक काम-वासना की तृप्ति में साधन बना कर किये होने हैं । घर नर-पिशान ! तुर्भे क्या हो गया ? रुक ना, पिनत्र नीवन पर कीनड़ भरा हाय फेरने से वान आ जा!सचरित्रता के चेहरे को अपना गन्दा हाथ लगा कर दृषित मत कर !

शं कृर वृध्धिक! तरा जीवन नित्मन्देह अत्यन्त कुटिल है। तरे विपयुक्त टंक की असल पीड़ा से तरा शिकार छटपटाने लगता है। परन्तु याद रख़, एक निर्दोष आत्मा को इसने का पाप वर्गर बदले के नहीं जाता। एक ज्ञल के मनबहलाव के लिये अपने जीवन को ख़तरे में क्यों डालता है? टहर, टहर! एक ऐसे व्यक्ति पर जिस ने तरा कुछ नहीं विगाड़ा डंक चलाने से पहले ज़रा सोच तो ले। नहीं सोचेगा तो तरा शिकार तो छछ देख रो-चो कर अञ्छा हो ही जायगा परन्तु याद रख तुक्ते कुचल दिया

, which was

जायगा। श्रपने जीवन की रत्ता कर, श्रीर उस निर्दोप श्रात्मा की भी रत्ता कर जिसे तू श्रपनी कामाग्नि का पतंगा बना कर भस्म करना चाहता है।

परन्तु सम्भव है, इन पंक्तियों का पढ़ने वाला 'शिकारी' न हो, 'शिकार' हो ; डसने वाला न हो, डसा गया हो ! ऋरे वालक ! यदि तू उन हतभागों में से है जिन पर कई वेवकूफ़ी की ज़िन्दगी और मौत निर्भर रहा करती है तो भी तुभे हुशियार रहने की ज़रूरत है। वे ब्रक्त के दुश्मन तेरी गोरी-गोरी चमकती चमड़ी पर मरते हैं; आस्मान में तारों की तरह िकलिमल करती तेरी बड़ी-बड़ी ब्रांखों पर जान देते हैं ; चाँद को शर्मा देने वाले तेरे गुलाबी गालों पर लट्टू होते हैं— यह सच है, इसे छिपाने की ज़रूरत नहीं । तेरे जिस्म के चोले की चटक-मटक से खिंचे हुए वे तरे चारों त्रोर ऐसे मंडराने लगते हैं नैसे फूल पर भेंारे। वे तुभे कहते हैं कि तेरे विना वे चाण्भर भी नहीं जी सकते परन्तु याद रख वे सब चोर हैं, डाकू हैं, लुटेरे हैं। परमात्मा ने अपनी उदारता से सौन्दर्भ का जो गहना तुभे पहनाया है उसी को चुराने के लिये वे तेरे इर्द-गिर्द फिरते हैं ! अरे मूर्ल शिकार ! अपने ऊपर रहम खा, इन लुटेरों के चँगुल में मत फँस।शिकारी तुभे फँसाने के लिये बनावटी प्रेम का दुकड़ा फेंक रहे हैं — तू ललचाया नहीं श्रीर जाल में फँसा नहीं। परमात्मा ने तुमा पर सौन्दर्य की बौछार कर दी है, परन्तु इस अपूर्व धन को पाकर ज़रा डर : क्योंकि सौन्दर्य का होना घर में छुवर्ण के होने के

समान है। इस सोने को देख कर, चोर ग्रौर लुटेरे, रात को, जिस समय तू चेख़नर सो रहा होगा, तुम्म पर टूट पढ़ेंगे; तुमें लूट ले नायेंगे; इस में सन्देह नहीं कि वे श्रपनी जान को ख़नरे में डालॅंगे परन्तु तेरा तो सर्वनाश ही हो जायगा। जिस समय तरा धन तेरे पास है, उस समय उस की रचा कर क्योंकि यह ऐसा धन है जो जब एक बार लुट जाता है तो दर-दर भीख मंगना कर ही छोड़ता है।

अरे दिल लुभाने वाले खूबसूरत फूल ! मत समभा कि ये तितिलियाँ जो पंत्र फड़फड़ा कर तेरी परिक्रमा कर रही हैं अनन्त-काल तक इसी तरह तेरे सोन्दर्य के गीत गाती जायँगी । जब तक नेरे मधु की अन्तिम बूँद ख़तम नहीं हो जाती तब तक ये तेरा रस चूसती चली जायँगी । और फिर,—फिर क्या ? फिर वे दूसर फूल पर मँडराने लोंगी और तू मुरमा कर मही में मिल जायगा । ऐ नी-जवान ! उस फूल को देख; उस फूल के मधु को देख; उस के मुर्माए हुए धूल में मिल रहे-पंति हियों के टुकड़ों को देख । धूल में एडियों के नीचे कुचले जा रहे फूल की 'आह' में तेरे जीवन के लिये मर्म-मेदी सन्देश मेरे हुए हैं!

जब तक लड़के पट्ना-लिखना नहीं सीखते तब तक वे दूसरी तरह से ख़राब होते रहते हैं, जब वे पट्ने-लिखने लगते हैं तब वे कई तरह की बेहूदा बातें लिखना सीख जाते हैं । वे ख़त लिखते-हैं और इन बेहूदा ख़तों का नाम 'प्रेम-पन्न' रखा जाता है। सम्भवतः यह उस दूपित शिज्ञा-प्रणाली का परिणाम है जो हमारे वचों को वर्तमान स्कूलों में दी जाती है। जब तक वालक भली-भाँति पढ्ना-लिखना नहीं सीख जाते तत्र तक उन के जीवन का यह पहलू सोया रहता है। अन्तरों का ज्ञान होते ही उन्हें अपने मनोभावों को प्रकट करने का एक नया रास्ता सूभ जाता है। वारह वर्ष की छोटी सी उम्र में भी लड़के इस तरह के वेहदा खत लिखने में व्यय देखे गये हैं। १६ से २४ वर्ष की उम्र के भीतर यह प्रवृत्ति अपने उच शिखर पर पहुँच नाती? है। इस समय प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कितना ही फीका क्यों न लगता हो, रसीला हो जाता है और अखिल विश्व को अपने हृद्य के अनयक संगीत से भर देना चाहता है । संसार के सुख-दुःख, सफलता-ग्रसफलता, ग्राशा-निराहा, चहत्त-पहल—सन के मिश्रण से नवयुवक का हृद्य कभी मीठी, कभी कड़वी तानों में भनक उठता है। नव-यौवन के उन्माद में वह मत्त हो जाता है --- उस के श्वास-श्वास से 'प्रेम'-सने पत्र और प्रेम के रस से भीनी कविताएँ निकलती हैं। एक और प्रेम के भावों की हृदय में इस प्रकार वाढ़ आ रही होती है, दूसरी ओर वही समय युवक के चिरत्र निर्माण का होता है। यदि मनुष्य के भावों को इस समय कावू किया जा सके, उसे सन्मार्ग दिखाया जा सके तो वह क्या से क्या न वन जाय? इस समय वनते हुए चरित्र को ऐसा क्षाकाव दिया जा सकता है जिस से वह कवि, चित्र-कार, साहित्य-सेवी, वैज्ञानिक, दार्शनिक जो कुछ चाहे वन सकता

है. परन्तु इस मुख्यवसर से लाभ उठाने वाले ही कितने हैं श्रीर कहाँ हैं ? यह श्रपूर्व श्रवसर जन कि युवक के मस्तिष्क पर मनमानी द्याप लगाई जा सकती है हम में से सब के पास, एक-एक के पास, कभी-न-कभी ज़रूर आता है। परन्तु यह अवसर एक ही वार श्राता है, श्रोर यदि उस समय इसका तिरस्कार कर दिया जाय तो फिर लौट कर नहीं श्राता । कालिजों में पढ़ने वाले कई लड़के शिकायत किया करते हैं कि वे श्रव उतने तेज़ नहीं रहे जितने वे पहले स्कूल के दिनों में थे। श्रीर हो भी केसे सकते हैं जब कि उन्हों ने एक सुवर्ण-श्रवसर को अपने हाथों ही खो दिया। यदि वे नुरा भी श्रष्ठ से काम लेते तो अपने समय का श्रधिकाँरा भाग वेहदा प्रेम-पत्रों श्रौर प्रेम-कविताश्रों के लिखने में न खोते। जो प्रएटे उन्हों ने किसी 'प्रेम-कविता' के पचको मन-ही-मन गुनगुनाने में, श्रास्मानी श्रीर हवाई वार्तों को अस्ली समम कर उनके पीछे वृतहाशा दौड़ने में खर्च किये उस से उनकी मानसिक शक्ति बढ़ने के स्थान पर घटी, इस का उन्हें परिज्ञान नहीं ; जो शक्ति उन्हों ने श्रपनी कल्पना के फूल तोड़ कर किसी प्रेम-पत्र के एक-एक अज्ञर और एक-एक शब्द के सिंगार करने में ज़्यूय की उस से उन के शरीर की बढ़ती रुकी, मन ख़ोर आतमा का विकास वन्द हो गया, यह भी उन्हें मालूम नहीं । किस्से-कहानियों में श्रंकित जीवन वड़ा मीठा मालूम होता है, उसी को जब कल्पनाओं में चित्रित किया जाय तब श्रीर भी मीटा मालूम पड्ने लगता है परन्तु कल्पना, खप्न, तस्वीर

श्रीर कहानी में दिखाई देने वाला जीवन वास्तविक जीवन नहीं है। नवयुवक प्रायः श्रपने किल्पत स्वर्ग-लोक में विचरा करता है। श्रचानक किसी दिन कल्पना का जादू उतर जाता है श्रीर वह ग्रीत इसी नीरस मर्त्यलोक में श्रा टपकता है श्रीर श्रपने ही जैसे भग्न-स्वप्त जीवों को चारों तरफ पाता है। रात्रि की प्रशान्त मोह-निद्रा में उसे वह भयंकर चेतावनी की श्रावाज सुनाई पढ़ने लगती है जो पहले भी श्रात्मा के श्रन्तर्तम प्रदेश में से सदा उठा करतीथी, कभी मूक नहीं हुई थी परन्तु फिर भी कभी सुनाई नहीं दी थी!

परन्तु क्या इन पंक्तियों का यह श्रिभप्राय है कि मैं प्रेम की कलियों को उन के प्रयम विकास में ही मसल देने का पाठ पढ़ा रहा हूँ ताकि इस दुःखमय संसार में वहने वाला पवन उन की मधुर मुस्क्यान को लेकर किसी भी दुई भरे दिल की जलन को दूर न कर सके १ क्या मेरा यह तात्पर्य है कि हृद्य में उठती हुई प्रेम की ज्वाला को संसार की श्रासारता के विचार-रूपी जल के छींटों से बुम्ता दिया जाय ? नहीं—कभी नहीं ! मैं इस बात को खूब सममता हूँ कि प्रेम ही जीवन है, प्रेम ही चलते-फिरते मनुष्य की सञ्जीविनी शक्ति है, प्रेम ग्रखिल विश्व की स्थिति का कारण है। प्रेम के विना हृद्य के दुकड़े २ हो जायँ, आत्मा नीरसता के कारण जड़ हो जाय, अविरत चलनेवाला विश्व-संगीत एकद्म स्तन्ध हो नाय । प्रेम ही सृष्टि के आदि में विकीर्ण नगत् के प्रथम-श्रसा में उत्पादन की अदम्य राक्ति का संचार करता है। कलकत्ता के हस्पताल में एक वेहोश महिला लाई गई । उस का

मार वर्ष का वचा लो गया था। वह उसे हूँ दती हुई रेल की सड़क को पार कर रही थी कि इतने में रेलगाड़ी की टकर से चोट ला कर गिर पड़ी थोर बहोश हो गई। उस की नाड़ी वन्द हो गई, हद्ध्य के भीतर गित न रही, परन्तु उसकी संज्ञा-हीन थ्राँख अपने खोये वचे की तलाश में बेहोशी में भी व्याकुल हो रही थीं। डाक्टरों ने कहा कि उस बेहोशी की हालत में भी, जब हद्ध्य थोर नाड़ी ने गित करना छोड़ दिया था, केवल बच्चे के प्रेम ने उसे जीवित रखा। कुछ देर बाद उसके हद्ध्य में किर से गित पैदा हो गई। प्रेम ने मरते हुए को मरने न दिया थ्रीर दश्यमान मृत्यु में भी जीवन को कायम रखा। क्या इस प्रेम के विरुद्ध मेरे मुख से एक भी राज्द निकल सकता है ? मैं खूव समस्तता हूँ कि यदि प्रेम न रहे तो जीवन जीने लायक ही न रहे।

कोमल-हृद्या माता अपनी सन्तान के माथ पर चुम्बनों की बोद्यार कर देती है—उस देवीय प्रेम के विरुद्ध एक अच्चर भी मुंह से निकालना योर पाप है। श्रोह ! माता का ध्यान किन छिपी हुई, मोयी हुई, प्यारी २ स्मृतियों को जगा देता है। उसी की प्रेममयी गांद में, उस की कोमल वाहों में पड़े २, स्वर्ग के मरने बहानेवाली उस की आँखों की तरफ देखते २ हम ने कई साल विताये। उसी की संरच्चा में पलते हुए हम ने संसार की तरफ एक श्रप्त कौत्हल से माँकना शुरु किया, छुछ थोड़ा-बहुत सीखा श्रोर श्रादमी बने। क्या उस का प्रेम भुलाया जा सकता है ? कभी नहीं—सी वार नहीं! दूरी इसे कम नहीं कर सकती, समय

इसे मिटा नहीं सकता । पाप के पंक में निमग्न या दुःख के समुद्र में डूवते किसी भी मनुष्य को माता की प्रतिमा का घ्यान सम्भाल सकता है, बचा सकता है। ये अभागे कितने कृतन्न हैं जिन के घृित्ति कृत्यों को देख कर उन्हें गोद में विलाने वाली जननी की आँखें उवलते हुए गर्म २ आँसुओं से एक वार भी डवडवा जाती हैं! क्या उस माता के प्रेम को, उस के मोह को, किसी प्रकार भी छोड़ा जा सकता है!

माता तो माता ही ठहरी, भाई भी कितने प्यारे होते हैं, षहिन का प्यार भी कितना मीठा होता है। यह प्रेम नहीं, अन्तरिज्ञ से उतरी हुई पवित्रता की गंगा है जिस में भाई-भाई श्रीर भाई-बहिन एक दूसरे को गोते देते हैं, खेलते हैं श्रीर प्यार करते हैं। जितना ही इस प्रेम को वढ़ा कर विकसित किया जाय श्रीर विकसित करते २ उस ऊँची सतह तक पहुँचा दिया जाय जहाँ विश्व के श्राविल प्राणी, परमात्मा के सब श्रमृत-पुत्र एक बड़े परिवार में समभे जाते हैं, उतना ही यह प्रेम अपने विशुद्ध रूप में प्रकट होता है, सार्थक होता है। यह प्रेम जिस के हृद्य में है वह भाग्यशाली है और जिस के हृदय में नहीं है उसे इस की जड़ श्रभी से जमाने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये क्योंकि इसी प्रेम के अमान से आज हम जाति रूप से संसार की सभ्य जातियों से भिकड़े हुए हैं और अपने को जुवानी जमा-खुर्च में श्राध्यात्मिक कहते हैं परन्तु श्राध्यात्मिकता के उस प्रेम से, मो मनुष्यमात्र को एक प्ररिवार का अग वना देता है, कोरे हैं। पति-पत्नी का प्रेम भी मनुष्य को दी हुई ईश्वर की छपाओं में से एक है। भगवान के चलाए हुए नियमों से, वे दोनों, न जाने कहाँ-कहाँ पेदा हो कर और पल कर कहाँ आ मिले हैं। वे दोनों जीवन-मार्ग के पियक हैं, आपस में एक दूसरे के सहारे हैं। आपस के दोषों को दूर करते हुए, किमयों को पूरते हुए जीवन-यात्रा को प्रेम-पूर्वक निभाना उन का कर्त्तव्य है। पित-पत्नी के प्रेम की कामना जब अत्यन्त उत्कट हो जाती है, वे पारस्परिक भिन्नता को मिटा कर दो से एक हो जाते हैं, तभी, दोनों के पित्र आध्यात्मिक मिलन में, अखरड-ज्योति के भरडार भगवान् के स्फुलिंगों का चौंधिया देनेवाला प्रकाश अन्धकार के आवर्रा को फाड़ कर आत्मा को आलोकित कर देता है। यह प्रेम एक अमूल्य देन हैं!

प्रेम मित्रता के रूप में भी प्रकट होता है। समान में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर हमारे हृदय में भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न होते हैं। किसी को देख कर घृणा, किसी को देख कर घृणा, किसी को देख कर ऐसा मानो जन्म जन्मान्तरों का परिचित अपने ही परिवार का अंग! यदि तुम्हारी मित्रता के आधार में वह प्रेम है जिसे एक आत्मा की दूसरे आत्मा के प्रति प्यास कहा जा सके, जिस के द्वारा तुम्हारे हृदय में उँची-उँची उमंगें उठ खड़ी हों, जो तुम्हें धर्म तथा सचाई के मार्ग पर कदम बढ़ाने के लिये प्रोरत कर सके और पाप तथा दुष्प्रवृत्ति के अन्धकार को भगाने के लिये प्रकाश की किरण वन

सके, तो निस्तन्देह, तुम्हारा प्रेम एक मशाल है जो उस आग की चिनगारी से जलाई गई है जो प्रकाशस्तम्भ के रूप से खड़ी हुई तुम्हारे अन्तिम लच्य की तरफ़ तुम्हें बुला रही है और स्वयं आगे बढ़ती हुई तुम्हें भी उसी तरफ़ ले जा रही है। अरे यात्री! तु बढ़ा चल, इस प्रेम की ज्योति को अपना आसरा बना कर आगे, वेखटके, बढ़ा चल—तूने जहाँ जाना है वहीं पहुँचेगा।

सिसरो का कथन है कि सची मैत्री उन्हीं में हो सकती है ज़ो सदाचार के परम पुनीत भावों से प्रेरित हो कर, आपस में एक-दूसरे की इन्ज़त को समभते हुए, एक-दूसरे की तरफ सुकते हैं । सदाचार से उस का श्रमिप्राय हवाई वातों से नहीं है । दुनियाँ में आदर्श पूर्ण-रूप से कहीं भी घटता हुआ दिखाई नहीं देता, परन्तु वह जहाँ तक श्राचरण में घट सकता है उतना जब तक न घटाया जाय तव तक, केवल वार्तों के आधार पर अपने को सदाचारी कहने का किसी को श्रिषकार नहीं है। सदाचारियों की मैत्री—श्र हा!— . अरली मैत्री तो होती ही सदाचारियों में है। 'पुराय' की सुन्द्रता जिस ने देखी उस ने अस्ली, कभी न मिटने वाली, सुन्दर्ता देखी, क्योंकि इस के समान सुन्दर, इस के समान मोहने वाली वस्तु दुनियाँ में दूसरी नहीं । पवित्रता, सचाई, सादगी, इमान-दारी में ही तो सौन्दर्ध्य है। राम और कृप्ण को किस ने देखा था ? परंन्तु क्या, इतनी सदियों के बीत जाने पर भी, कोई हिन्दू हृदय है जो इन के नाम को सुनते ही प्रेम से भर नहीं जाता, अभिमान से फूल नहीं उठता ? इन की कया को सुनते

नाते हैं श्रोर श्रोतार्श्नों की श्रांखों से प्रेम के श्रश्न-विन्दु टपकते जाते हैं। उन की जीवन-कथार्श्नों में विखरी हुई घटनाएँ कैसी प्यारी हैं, कैसी सुन्दर हैं! क्या यह प्रेम राम श्रीर कृष्ण की मूर्तियों से है ? श्ररे, उन की मूर्तियों को किस ने देखा है। श्रस्ल में, सोन्दर्थ का श्रवतरण 'पुग्य' तथा 'सदाचार' के देह में होता है!

पूमी-हृद्य की गहराई न किसी ने नापी, न वह नापी गई। पित्र पूम अपने प्रारम्भ के दिन से, जो वास्तव में इस का पिछले जन्म के छोड़े हुए सूत्र को इस जन्म में फिर से पकड़ने का दिन होता है, गहरा होने लगता है, और अनन्त-काल तक गहरा ही गहरा होता चला जाता है। इस में चणभर के लिये भी वनावट नहीं आ सकती क्योंकि जिस चण इस में बनावट ने प्रवेश किया उसी चण इस की पेंदी नज़र आने लगी। जिस भाव का उद्गम तुच्छता और खोछेपन में हो वह कब तक ज़िन्दा रह सकता है?

पूम एक खरा मोती है जिसे जौहरी पहचान लेता है—
पर खोट बनावटी मोतियों की भी तो यहाँ कमी नहीं। 'लोभ' को श्रीर 'काम' को 'प्रेम' का नाम देकर दुनियाँ को, श्रीर श्रापने को, घोखा देने वालों की कमी नहीं है। रुपये, सप्टिंड श्रीर भाग्य को देख कर कई प्रेमी उत्पन्न हो जाते हैं। ऐ प्रेम के दीवाने! यदि तेरे प्रेमी तेरे भाग्य को देख कर प्रेम की माला जपते हैं तो ख़बरदार हो जा क्योंकि बुद्धिमानों का कथन है कि 'भाग्य' वेश्या के समान है— हृदय में प्रेम का लव-लेश

भी न होते हुए वह सभी प्रेमियों से आिंतगन करती है परन्तु सभी को दूसरे ही चए भुला देने के लिये तैयार रहती है ! उस की सस्ती मुस्कराहट पर अपने को मत लुटा क्यों कि इस की मुस्कराहट को त्यों रियों में बदलते देर नहीं लगती । भाग्य वेश्या के भागों के समान नया-नया रूप बदल लेता है । यह चाणिक है ; साय ही अन्धा भी ! अपने अन्धेपन की छूत तो यह अपने शिकारों में भी फैला देता है । रुपये वाले प्रायः आँखें रखते हुए भी अन्धे होते हैं । अरे भाग्य के लाडले प्रत्र ! आँखें खोल, तेरे घर का चिराग टिमटिमा रहा है । ऐसे दोस्तों की खोज कर, जो तरा उन कठिनाइयों और आपत्तियों में साय दें, जो अभी तेरे सिर पर पहाड़ की तरह टूटने वाली हैं । वे ही दोस्त तेरे अस्ली दोस्त होंगे । इस समय जो खुशामदी टट्टू तुभे घेरे रहते हैं ये तेरे दुरमन और तेरी दौलत के दोस्त हैं !

राज्दों की क्या विडम्बना है! 'लोभी' भी प्रेमी कहाता है, 'कामी' भी अपने को प्रेमी कहना चाहता है। अरे वालक! कहीं तेरा प्रेमी तेरे शारीरिक सौन्दर्य के कारण ही तो तुभे नहीं घेरे रहता ? क्या इस प्रेम का (?) उद्भव पाशविक मनोवृत्ति — शायद पैशाचिक मनोवृत्ति कहना अधिक उपयुक्त हो— तो नहीं ? क्या इस प्रेम के स्वांग के पीछे कोई पतित भाव तो काम नहीं कर रहा ? यदि ऐसा ही है, और अधिकांश में ऐसा ही होता है, तो अब तक जो कुछ कहा जा चुका है उस की एक-एक बात को गाँठ बाँध ले। ऐसी दोस्ती तुम दोनों को तवाह कर

देगी। जब यह दोस्ती ख़त्म होगी—और जब तरा सारा रस नृस लिया जायगा तो ख़त्म यह ज़्हर होगी—तब तुम में शर्म से विगर्ड़ो हुई अपनी सूरत को दर्पण में देखने की भी हिम्मत न रहेगी। यदि ष्टुणित काम-वासना को 'प्रेम' का नाम देकर नव्युवकों का शिकार खेलने वाले कामी लोग संसार के पवित्रतम भाव की निडम्बना न कर रहे होते तो शायद 'दोस्ती' के सम्बन्ध में छुद्ध लिखने की आवश्यकता न पड़ती। सदाचार के केंद्र में 'माफ़ी' शब्द का छुद्ध अर्थ नहीं, और जहाँ मैत्रीका प्रश्न हो वहाँ नो आचार शिथलता के लिये किसी प्रकार की भी माफ़ी नहीं दी जा सकती। ऐसी आचार-शिथलता को, कासु-कना को, 'प्रेम' के नाम से कहने का प्रयत्न करना भी ईश्वर की स्तृष्टि के मब से पवित्र मनोभाव के साथ अन्याय और आयाचार करना है!

ब्रास्ती श्रीर बनावटी मित्रता में भेद करना सीखो। खुशामदी श्रोर कामी दोनों नाली के कीड़े हैं जो मेला खा कर जीते हैं— उन में प्रेम ? उन्हें पास तक मत फटकने दो, दूर से ही दुत्कार दो। यदि एक बार भी ठगे गये तो प्राय श्रीर सोन्दर्य के उच शिखिर से एसे लुदकोंगे कि पाप श्रीर कप्ट के गड़े में गिर कर नकना चूर हुए बिना न रहोंगे। ऐसे घोलेबाजों से सावधान रहो श्रीर याद रखो कि जानी दुश्मन भी उतना ज़तरनाक नहीं होता जितना गंगा-जमनी दोस्त जो स्वार्थ को लेकर दोस्ती करने चलता है। इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व में एक वार फिर दोहरा देना चाहता हूँ कि 'प्रेम' की जो पिवत्र देन परमात्मा ने प्रत्येक मानव-हृदयको दी है उसे सम्भाल कर रखना हरेक का फूर्ज़ है। मैत्री के प्रेममय भावों को आध्यात्मिक जगत् में से निकाल देना, भौतिक जगत् में सूर्य्य को बुक्ता देने के समान होगा—दोनों का अपने २ जगत् में समान स्थान है और दोनों ही मानव समाज के लिये ज्योति के उद्गम-स्थान हैं। परन्तु फिर भी यह सदा, सर्वत्र, स्मरण रखना चाहिये कि सच्ची मैत्री केवल सदाचा-रियों में हुआ करती है, दुराचारियों में नहीं।

इसलिये, अरे प्रेम-पुष्प के माली ! पुराय के बीज को हृद्य की उपजाऊ भूमि में वो दे । उस की जहों को ईमानदारी, सचाई, पिवत्रता, सदाचार और इज्ज़त का पानी देकर मज़बूत कर । उस बीज को पनपने दे—प्रेम का पौधा लहलहा उठेगा । इस पोधे को बढ़ने दे, जल्दी मत कर—वसन्त के यौवन से इसे अलंकृत होने दे, इस पर भाँति-भाँति की, नन्ही-नन्ही, देव-वन की किलयाँ लगने दे । इन किलयों को भी बढ़ने दे—बढ़ने दे, और खिल ने दे, ताकि गुलाबी फूलों की तरह वे मेत्री के पूर्ण-विकास से खिल पड़ें । परन्तु ऐ युवक ! खिलती हुई किलयों को तोड़ने के लिये हाथ मत बढ़ा क्योंकि पौधे का तना लज्जा, सन्देह और भय के काँटों से घिरा हुआ है । प्रेम की खिलती हुई किलयों को तने-तने पर हिल २ कर हवा के भोंकों में सूमने दे—जिस चीज़ को तू बना नहीं सकता उसे बिगाड़ने की हिमाकत मत कर !

तृतीय भ्राध्याय

जनन-प्राक्रिया

वन की सब क्रियाओं को मोटी तौर पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है: — शरीर-पोपण और प्रजनन। शरीर-पोपण एक स्वार्थमयी क्रिया है । खा-पीकर वैय्यक्तिक उन्नति करने से ही जीवन-शक्ति वनी रह सकती है। जहाँ यह जीवन है वहाँ यह स्वार्थ पाया ही जाता है। सुदूरवर्ती जंगल के एक कोने में खड़ा हुआ पीधा, हवा से, जल से, पृथिवी से, अपने जीवन के लिये आवश्यक प्राण-शक्ति को खींच लेता है । दिन प्रतिदिन उस में हरी-हरी कोंपलें लगती हैं, शाखाएँ फूटती हैं। वह बढ़ता हुआ, वृत्त बनता चला जाता है। प्रातः काल पन्नी श्रपने घोंसलों से निकलते हैं, श्रास्मान पार करते हुए मीलों दूर पहुँच जाते हैं। साँम को लौट त्राते हैं श्रीर अगले दिन फिर दाने की दूँढ में निकलने की तैयारी करने लगते हैं। इसी चक्र में उन की श्रायु बीत जाती है। जँगल के जानवर हरी घास श्रीर ताजे पानी की खोज में निकल पड़ते हैं । नहाँ उन्हें घास के खेत और पानी के तालाव मिल जाते हैं वहीं वे श्रपना वसेरा कर लेते हैं। मनुष्य भी, वचपन से लेकर बढापे तक, रोटी और कपड़े के जटिल प्रश्न को हल करने में ही पसीना बहाता है। इस प्रकार पौधे, पत्ती, पशु तथा मनुष्य

श्रपनी वैय्यक्तिक सत्ता को मिटने से बचाने के लिये भरसक जहोजहद करते हैं।

परन्तु यह कश्मकश कव तक चल सकती है ? त्राखिर, भरना हरेक को है। वैय्यक्तिक जीवन तभी तक है जब तक नीवित-प्राणी नीवन की परिवर्तनशील भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है । जब तक जीवन का पूर्ण-विकास नहीं हो जाता तत्र तक व्यक्ति को जीवित रहने के लिये, अपन शारीरिक-पोपण के लिये, उन अवान्याओं से लड़ना पड़ता है जो जीवन की सतत-धारा को रोकने वाली हों, उसे सुखाने वाली हों। परन्तु यह स्थिति भी कव तक रह सकती है ? त्राख़िर, समय त्राता है जब चारों तरफ़ की परिस्थिति के साथ जीवित-सम्बन्ध स्यापित कर सकना असम्भव हो जाता है, मनुष्य बूढ़ा हो जाता है। परिस्थिति से सम्बन्ध के रहने का नाम ही जीवन श्रोर् उस के टूटने का नाम ही मृत्यु है। ऐसी ग्रवस्था में शरीर-पोपण् की स्वार्यमयी क्रिया समाप्त हो जाती है। यदि मनुष्य का यही अन्त होता तो वह अत्यन्त दु:खमय होता, परन्तु ऐसा नहीं है, परमात्मा ने बुमते हुए दीपक की ज्योति को पूर्णरूप से सुर्जित रखने का भी उपाय कर दिया है। उस ने एक ऐसा तरीका निकाला है जिस से एक वार उत्पन्न हुआ जीवन अनन्तकाल तक बना रह सकता है।

'शरीर-पोपण' के बाद 'जनन-प्रक्रिया' मनुष्य की सहायता को आ पहुँचती है। इस के द्वारा वह वैध्यक्तिक जीवन के नष्ट हो ज़ाने पर भी उसे जाति के शरीर में जीता-जागता वना देता है। ज़व पौधे की वानस्पतिक वृद्धि रुक जाती .है तो उस. में संचरण करनेवाला वही प्राण-रम्य, सुगन्धित पुष्पों के रूप में फूट निकलता है । उन फूलों से सजातीय वृत्त उत्पन्न करने वाले सहस्रों वीज तैय्यार हो जाते हैं। हवा के मोंके से उखड़ता हुआ एक पौधा अपने जैसे अनेकों की नींव रख जाता है। युवावस्था में, त्रमृतुकाल में, सत्र प्राणी अपने जैसे बच्चे पैदा कर जाते हैं और उन बचों में ही वे प्राणी एक प्रकार से अमर हो जाते हैं। मनुष्य भी मृत्यु के सेंकड़ों श्रीर सहस्रों वर्ष उपरान्त, श्रपने वचीं में, पोतों-पड़पोतों में, वार-वार पैदा होता है और अपने चीए हुए यौवन को भी शाश्वत वना लेता है। इसं प्रकार, जीवन से उत्कट वैर रखनेवाली मृत्यु का पराजय होता है श्रोर जीवन की घारा अखिराडत रूप से प्रवाहित रहती है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'शरीर-पोषण' जीवन की स्वार्थमयी क्रिया है, परन्तु 'प्रजनन' स्वार्थहीन क्रिया है। इस का उद्देश्य युवावस्था में, जिस श्रायु में शरीर-पोषण ज्यादह नहीं हो सकता, शरीर-पोषण करने वाले तत्व से सन्तानोत्पत्ति करना है। जिस प्रकार पौधे की वानस्पतिक वृद्धि हो चुकने पर फूल खिलते हैं, इसी प्रकार जितना 'शरीर-पोषण' हो सकता है उस के हो चुकने पर 'प्रजनन' की वारी श्राती है। उससे पूर्व यह अस्वाभाविक है। 'शरीर-पोषण' का अवश्यम्भावी परिणाम 'प्रजनन' होना चाहिये, 'शरीर-पोषण' के समाप्त होने पर 'प्रजनन' ग्रुक होना चाहिये,

उस में पूर्व शुरू हो जाने पर वह 'शरीर-पोपए।' के खर्च पर होगा, उस में रकावट डाल कर होगा। जनन-प्रक्रिया का उपयोग सिर्फ़ सन्तित पैदा करने के लिये करना चाहिये और वह भी तब जब कि प्ररूष की आयु २५ तथा स्त्रीकी १६ वर्ष की हो क्योंकि इस आयु में पहुँच कर ही दोनों का पूर्ण विकास होता है। जिस भगवान ने मनुष्य को 'जनन-शक्ति' दी है उस की यही आज़ा है। पौघों और पशु-पिचयों में इस आज़ा का अचरशः पालन होता है परन्तु घिकार है मनुष्य को जो सम्यता और विकास की खींग हाँकता हुआ नहीं यकता परन्तु पिक्त जनन-शक्ति का दुरुपयोग कर के अपने को देवताओं के उच्च आसन से गिरा कर पिशाच बना लेता है और फिर जब समय हाय से निकल जाता है, भयंकर कुकुत्यों के डरावने परिणाम आँखों के सन्मुख नाचने लगते हैं, तो सिर धुन २ कर रोता है!

जीवन का उद्भव वड़ा रहस्य मय है। सर विलियम योगसन का विचार था कि इस पृथिवी पर जीवन किसी: अन्य नज्ञ से आ गिरा है। डार्विन का सिद्धान्त है कि वनस्पतियों तथा प्राणियों की उत्पत्ति किसी एक ही मूल-तत्व से हुई है। हर्वर्ट स्पेन्सर, हक्सले तथा टिन्डल ने कहा कि चेतनता की उत्पत्ति जड़ से स्वयं हो गई, परन्तु उन्हों ने साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया कि उन के सिद्धान्त की पृष्टि के लिये उन के पास कोई प्रत्यज्ञ प्रमाण न था। जीवन का उद्भव सृष्टि के प्रारम्भ में कैसे हुआ इस प्रश्न पर अब तक

कोई निश्चित सम्मति नहीं दी जा सकी । हाँ, उद्भव के बाद, जीवन की वृद्धि के प्रश्न को विज्ञान ने खूब हल किया हुआ है। वैज्ञानिकों का कयन है कि वानस्पतिक तथा जान्तविक जगत् का एक मात्र मूल आधार 'प्रोटोप्लाज़म' है जिसे केवल सूच्म-वीचाए यन्त्र की सहायता से देखा जा सकता है। जीवन का मूलभूत यह प्रोटोहाज़्म-कललरस- क्या है ? प्रोटोहाज़्म एक पारदर्शक पदार्थ है। यह लप्तलप्ता, आंघा द्रव और आघा ठोस होता है। इस के सब हिस्से एक ही तत्व से बने होते हैं; यह त्रालगड-एकरस होता है। इस में स्वाभाविक गति होती रहती है। यह गति श्रनियमित होती है, घड़ी-घड़ी बदलती रहती है श्रोर 'ग्रमीवा' की गतियों के सहश होती है। 'प्रोटोष्ठाज़्म' के भीतर हर समय दो क्रियाएँ होती रहती हैं। एक क्रिया से वह जीवन-रहित पदार्थ को अपने अन्दर लेकर जीवन का अंग बना देता है, दूसरी क्रिया से जीवन के अंगीभूत पदार्थ को भीतर से निकाल कर जीवन-रहित बना देता है। यही क्रिया 'जीवन' का प्रारम्भ है। वानस्पतिक जगत् में जीवन-शक्ति का सर्वतः प्रथम विकास

'वैक्टीरिया' में होता है; प्राणि-जगत् में वहीं भूमीबा' में होता है। जीवन की इन दोनों इकाइयों का मूलतत्व 'प्रोटोष्ठाज़म' ही होता है। श्रयति, प्रोटोष्ठाज़म, जो जीवन का मूलमूत मौतिक तत्व है, जब वनस्पित जगत् का प्रारम्भ करता है उस समय इस का नाम 'वैक्टीरिया' होता है, श्रीर जब यह प्राणि-जगत् का प्रारम्भ करता है तब

इस का नाम 'श्रमीवा' होता है । 'वैक्टीरिया' तथा 'श्रमीवा' दोनों प्रोटोहाज़्म के ही रूपान्तर हैं श्रीर क्रमशः स्थावर तथा ज्गम जगत् के प्रारम्भिक रूप हैं। किसी शान्त तालाव के **झन्द्र से की्चड़** को लेकर सूच्म-वीच्चाए यन्त्र के नीचे रख कर देखें तो पता लगेगा कि वह छोटे-छोटे गोल-गोल प्रोटोम्लाइम के कीटागुओं से वना हुआ है। सूद्म निरीचण से पता चलेगा कि ये प्रोटोम्राज्म से वने हुए पदार्थ जीवित प्राणी हैं—वे हिलते हैं, बढ़ते हैं श्रीर भिन्न-भिन्न श्राकृतियाँ धारण करते हैं । इन्हीं कीटागुओं को 'अमीवा' कहते हैं। अमीवा की चेष्टाएँ अत्यन्त विचित्र होती हैं। इसका एक हिस्सा वढ़ कर मुख वन जाता है, फिर वही श्रामाशय या टाँगों का काम भी करने लगता है। इस कीटा गु के शरीर का कोई अंग निश्चित नहीं होता । अपने श्रारीर के जिस हिस्से से वह जो कोई भी काम लेना चाहे ले सकता है।

'अमीवा' के शरीर में एक छोटी गांठ-सी होती है ज़िसे 'न्यूक्तिअस' कहते हैं। यह 'अमीवा' के 'प्रोटो-प्राज़म' के भीतर ठहरी हुई नज़र आती है। यह जनन-प्रक्रिया में वड़ी आवश्यक है। 'न्यूक्तिअस' की गाँठ सहित 'अमीवा' के प्रोटोप्राज़म को अंग्रेजी में 'न्यूक्तियेटेड प्रोटोप्राज़म? कहते हैं। 'न्यूक्तियस' अर्थात् गाँठ वाले प्रोटोप्ताज़म को ज्ञुद-तीज्ञाण के नीचे एस कर देखने से अनेक नई वातें मालूम होती हैं। कुछ देर के वाद जब 'अमीवा' निश्चल हो ज़ाता है उस के 'न्यूक्तियस' में ' कुछ त्रावश्यक परिवर्तन होने प्रारम्भ होते हैं। 'न्यूक्तियस' के बीच में से दो टुकड़े हो जाते हैं श्रीर प्रत्येक टुकड़े के साय श्राधा शोटोष्ठाज़म भी चला जाता है। वह उस टुकड़े को घेर लेता है श्रीर एक के ही दो भाग हो कर दो स्वतन्त्र 'श्रमीवा' तय्यार हो जाते हैं। इस प्रकार एक 'श्रमीवा' के दो 'श्रमीवा' वन जाते हैं। इस प्रकार एक 'श्रमीवा' के दो 'श्रमीवा' वन जाते हैं। इस प्रकार जनक-श्रमीवा श्रपने व्यक्तित्व को नष्ट कर के श्रपने ही शरीर को पहले दो, फिर चार, फिर श्राठ श्रादि मागों में विभक्त कर श्रपनी जाति की भावी सन्तति को जन्म देता है।

में से टूट कर दो भागों में बँटता, और वे दो भाग होए-विभन्न टूट कर चार भागों में, और इसी प्रकार वे भी आगे-ही-आगे टूट कर अनेक भागों में विभक्त होते जाते हैं, इसी प्रकार 'अमीना' से ऊँचे प्राणियों में भी शरीर की रचना का, 'न्यृहित्यस-युक्त प्रोटोक्षड़म' से ही, जिसे अंग्रेज़ी में 'सेल' या हिन्दी में 'कोष्ठ' कहंते हैं, प्रारम्भ होता है। उच प्राणियों के शरीर के उत्पन्न होने में भी वही प्रक्रिया होती है जो 'अमीना' में पायी जाती है, भेद केवल इतना है कि 'अमीना' का 'न्यृहित्यस' तो दो स्वतन्त्र भागों में विभक्त हो कर अपनी सत्ता विल्कुल मिटा देता है परन्तु ऊँची जाति के प्राणियों में, जिन में मतुष्य भी शामिल है, प्रोटोष्ठाड़म का बहुत योड़ा-सा हिस्सा प्रयक् हो कर 'अगडा' या 'वीज' वनता है और उन अगडों या वीजों को 'अगडा' या 'वीज' वनता है और उन अगडों या वीजों को

उत्पंत्र करनेवाला प्राणी उसी प्रकार के दूसरे अगडों और वीनों को समय-समय पर उत्पंत्र करता रहता है और 'अमीना' की तरह अपनी भौतिक सत्ता को मिटा नहीं देता, किन्तु जीवित बनाये रखता है। जिस काम के लिये 'अमीना'-जैसे निम्न-श्रेणी के प्राणी को अपने सारे शरीर के दो हिस्से कर देने पड़ते हैं उसी काम के लिये उच्च-श्रेणी के प्राणियों के शरीर का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा पर्याप्त होता है।

यह छोटा-सा हिस्सा ही पुरुष में वीर्य-कीट तया स्त्री में रजःक्रण के रूप में पाया जाता है। 'वीर्य-कीट' को श्रंग्रेज़ी में 'स्पर्मेंटोज़ोत्रा' कहते हैं — यह 'उत्पादक-वीर्य' है। स्त्री के 'रजःकण्' को श्रंग्रेज़ी में 'श्रोवम' कहते हैं । 'स्पर्मेंटोज़ोश्रा' तथा 'त्रोवम' दोनों ही 'न्यूक्तियस-युक्त प्रोटोप्ठाड़म' के पिएड के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। ऊँची जातियों के प्राणियों में जब 'वीर्य-कीट' श्रयवा 'स्पर्भेटोज़ोग्रा' 'रजःकण्' श्रयवा 'श्रोवम' के साथ मिल जाता है तव 'श्रोवम' (स्त्री का वीज) दो, चार, थाठ, सोलह, बत्तीस, चौंसठ, और इसी प्रकार ऐसे ही छोटे-छोटे कोछों में टूट-टूट कर विभक्त होता जाता है और बढ़ता जाता है। यह वृद्धि 'श्रमीवा' के समान नहीं होती। यहाँ कोष्ठों के दुकड़े बिल्कुल अलग नहीं हो जाते। कोष्ठों की वृद्धि होती नाती है, परन्तु सब कोष्ठ मिले रहते हैं । उच-प्राणियों में ऐसा ही होता है। जब इन कोछों का मिल कर एक छोटा-सा पिगड बन जाता है, उस में तन्तु, मांस-पेशियाँ, अस्थियाँ वन जाती हैं तत्र वह माता के पंट से निकल कर स्वतन्त्र रूप से जीन लगता है। उस से पूर्व तो वह माता के शरीर का ही हिस्सा रहता है। प्राणियों के शरीर की इसी प्रकार वृद्धि होती है श्रीर इसे 'विभजन-द्वारा-वृद्धि' (सेगमन्टेशन, मल्टी क्षिकेशन वाई डिवीयन) या 'कोण्ड-कल्पना' (सेल-थियोरी) कहते हैं।

शरीर के अनेक अवयव केवल इन कोण्डों से ही वने होते हैं। निगर उन में से एक है। 'कोण्ड' ही तन्तुओं के रूप में पट्डों, मांस-पेशियों तया ज्ञान-वाहिनी-नाड़ियों की रचना करते हैं। हड़ी तया दाँत जैसी मज़बूत तया सख़त चीज़ें भी मौलिक रूप में कोण्डों से ही बनती हैं। इसिलिये कोण्ड (सेल) प्राणिमात्र के शरीर की रचना करने वाली इकाई हैं। कोण्डों के आपस में मिलने, संयुक्त होने तया परिवर्तित होने से ही शरीर का निर्माण होता है।

कोण्ड-विभनन (प्रोटोष्ठाज़म तया न्यूक्षियस के दो २ टुकड़े) होने से पहले, एक और आवश्यक प्रक्रिया होती है जिसका हमने अभी तक वर्णन नहीं किया। तालाव की काई को सून्म-वीन्नण-यंत्र द्वारा देखने से ज्ञात होता है कि वह कुछ जीवाणुओं से बनी हुई है। इन्हें 'एलजी' कहते हैं। उस काई में 'न्यूक्षियस-गर्भित-प्रोटोष्ठाज़म' की आमने-सामने दो-दो पंक्तियाँ वन जाती हैं। प्रत्येक पंक्ति के कोण्ड अपने सामने के कोण्डों से मिल जाते हैं और दोनों के मिलने से एक नवीन कोण्ड वन जाता है। इस प्रक्रिया में एक कोण्ड को दूसरे कोण्ड की तरफ जाते हुए हम सूच्म-वीज्ञण-यंत्र द्वारा देख सकते हैं। इन कोष्ठों को, जो कि दो भिन्न २ पंक्तियों में होते हैं, 'नर' श्रीर 'मादा' कहते हैं। इन कोष्ठों के परस्पर संयुक्त होने की प्रक्रिया को 'संयोग' (कौञ्जुगेशन) कहते हैं। यदि कोष्ठों का यह संयोग न हो तो 'ऐलजी' में एक से श्रनेक होने की जो प्रक्रिया पायी जाती है वह भी न हो। कोछों का यह पारस्परिक संयोग सृष्ट्युत्पत्ति का एक श्रावश्यक सिद्धान्त है।

इसलिये 'जनन' दो विभिन्न-तत्वों के 'संयोग' का फल है । इन्हीं विभिन्न-तत्वों को प्रचितत भाषा में 'पुरुप' तथा 'स्री' कहा जाता है। यद्यपि कभी २ तत्वों की विभिन्नता, अर्थात् विजातीयता, का ज्ञान सूच्म-वीच्चण-यंत्र से भी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता तथापि उन के विविध कार्यों को देख कर निश्चय कर सकते हैं कि वे भिन्न २ तत्व वा लिंग के प्राणी हैं। दोनों ही, एक ननीन प्राणी की उत्पत्ति के लिये, 'पुरुपतत्न' तथा 'स्त्रीतत्न' इन विभिन्न-तत्वों को उत्पन्न करते हैं और इन विभिन्न-तत्वों के सम्मिलन से ही एक नवीन प्राणी की सृष्टि होती है। प्रजनन के लिये त्रावश्यक इन दोनों तत्वों को उत्पन्न करने वाली इन्द्रियों को 'जननेन्द्रिय' शब्द से कहा जाता है। प्रजनन के आधार-भूत सिद्धान्त सम्पूर्ण-विश्व में एक से हैं। इसलिये 'जनन-प्रक्रिया' को और अधिक समभाने के लिये हम क्रमशः पौधों, छोटे प्राणियों, बढ़े प्राणियों तथा मनुष्यों में इन नियमों को देख कर इस प्रक्रिया को समभाने का प्रयत्न करेंगे।

पौधे

'फूल' पौधों की जनन-सम्बन्धी इन्द्रियाँ हैं। कुछ फूल 'नर'-तत्व को उत्पन्न करते हैं और कुछ 'मादा'-तत्व को । कई वार एक ही फूल में दोनों तत्व मिले रहते हैं। फूलों के नर-भाग को श्रंग्रेज़ी में 'स्टेमन' तथा मादा-भाग को 'पिस्टिल' कहते हैं । नर-भाग (स्टेमन) में एक प्रकार की सूच्म, शुद्ध धूली होती है जिसे पुँ-केसर (पौलन) कहते हैं। यही फूल का जनन-सम्बन्धी नर-तत्व है । मादा-भाग (पिस्टिल) फूल के मध्य में स्थित होता है त्रीर वहीं पर फूल का जनन-सम्बन्धी मादा-तत्व (त्रोन्यूल) रहता है । यदि नर तथा मादा तत्व एक ही फूल के भीतर हों तो वहीं 'बीज' की सृष्टि हो जाती है परन्तु यदि ये . दोनों तत्व भिन्न २ पौघों पर स्थित हों तो नर-पुष्प के पुँ-केसर को वायु उड़ा कर निकटस्य मादा-पुष्प के भीतर पहुँचा देती है। इस विधि से कई अवस्थाओं में नर तया मादा जाति के पुष्पों के बहुत दूर स्थित होने पर भी 'संयोग' हो जाता है । मधु-मक्खियाँ, पतंग आदि अपने पंखों और पाँवों द्वारा उत्पादक-धूलि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर जनन-प्रक्रिया में वड़ी सहायता पहुँचाते हैं। छोटी चिड़ियाँ और वेचारा 'स्नेल' इस दृष्टि से बड़े काम के हैं। पौघों की जनन-प्रक्रिया में भाग लेन वाले कई कीट, पतंगों का इतना महत्व है कि कविता की भाषा में उन्हें 'फूलों के विवाह का पुरोहित' कहा गया है 1

छोटे-प्राणी

कुछ छोटे प्राणियों में जिन विधियों द्वारा 'संयोग' श्रयता 'जनन-प्रक्रिया' होती है व पोवों की अपेज़ा मछली विभिन्न, अनेक तया अधिक आश्चर्य-ननक हैं। उदाहरणार्थ, मछलियों तथा साँपों में, माता-पिता के शरीर से, उन के श्रापस में मिले विना ही, नर तथा मादा तत्व निकल आतें हैं और उन तत्वों का माता-पिता के शरीर के बाहर ही संयोग हो जाता है। इस अवस्या में एक का दूसरे से स्पर्श विल्कुल नहीं होता । प्राणियों की इस श्रेणी में जनन-प्रक्रिया ठीक वैसी ही होती है जैसी उन पौघों में जिन में नर तथा मादा पुष्प एक ही पौधे के भिन्न २ भागों में स्थित होते हैं। मादा-मछली के शरीर में बहुत से अगडे ख़ास मौसम में पेट़ा हो जाते हैं। कई वार इन की संख्या हजारों तक होती है। इसी समय नर-मञ्जली के अगडकोप, जो कि उस के शरीर में (कोष्ठगृहा= एवडोमिनल कैविटी में) विद्यमान होते हैं, वढ़ने लगते हैं । इन्हीं अगडकोषों में वीर्य-कण होते हैं। जब मादा अपने अगडों को मुरचित रखने के लिये जगह दूँढती है तो नर चुपचाप उस के ही पीछे हो लेता है और ज्योंही वह अगडों को देती है त्योंही वह उन पर नीर्य-कण डाल देता है। इसी से संयोग हो जाता है श्रौर नई मछिलयों का जीवन प्रारम्भ हो जाता है। उत्तरी समुद्र का जल कई स्थानों पर मछली के अगडों से गढ़ला हो जाता है।

यह प्रक्रिया मेंडक की कई जातियों में ज्यों-की-त्यों मिलती है। जिस समय मादा अपने अगडे सुरज्ञित रखने वाली मेंडक होती है, नर उस की पीठ पर चढ़ जाता है श्रीर तन तक चढ़ा रहता है जब तक कि सब अग्र हे सुरचित तौर पर रख नहीं दिये नाते । मादा द्वारा अगडों के रखे नाते ही नर उन पर वीर्य-करण डाल देता है। इस प्रकार नर तथा मादा दोनों के उत्पादक-तत्वों के संयोग से जनन प्रारम्भ होता है। मादा को श्रयंडे रखने में काफ़ी समय लगता है। तत्र तक नर उस की पीठ पर चढ़ा ही रहता है । इस समय उस के पाँवों में अजीव ढँग के श्रंगूठे-से निकल श्राते हैं जिन से वह मादा की पीठ पर चिपटा रहता है । ये श्रंगूठे इसी समय निकलते हैं । बचा पैदा करने की मोसम के समाप्त हो जाने पर ये ज्ञिक्त श्रंगूठे लुप्त हो जाते हैं क्योंकि फिर इन की कोई श्रावश्यकता नहीं रहती। ये दोनों उदाहरण 'वहिःसंयोग' के हैं-इन में नर तया मादा तत्वों का संयोग मादा के शरीर के वाहर होता है।

कुछ जातियों में, जिन में 'श्रन्तःसंयोग' होता है, नर श्रोर मादा एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते परन्तु फिर भी कई श्रज्ञात कारणों से नर का वीर्य-कण मादा के शरीर में पहुँच जाता है श्रोर वहाँ पर नर-तत्व के संयोग से श्रग्र बढ़ने लगता है। इस प्रकार की जनन-प्रक्रिया में नर तथा मादा का शारीरिक संयोग नहीं होता। संस्कृत-साहित्य में वादल के गर्जने से वगुली के गर्भ हो जाने का वर्णन पाया जाता है। साँपों में नर तथा मादा की जननेन्द्रियों के पारस्परिक स्पर्श मात्र से संयोग हो जाता है। स्नेल उभय-स्नेळ लिंगी प्राणी है, अर्थात् एक ही स्नेल नर और मादा दोनों एक साथ होता है। इस में नर और मादा का संयोग वड़ी विचित्र रीति से होता है। टी० आर० जोन्स ने इस का निम्न प्रकार वर्णन किया है:—

"इन में जिस विधि से संयोग होता है वह कुछ कम श्राश्चर्य-जनक नहीं है। इस संयोग का प्रारम्भ असाधारण रीति से होता है। देखने वाला सममता है कि यह दो प्रेमियों का मिलाप नहीं परन्तु शत्रुत्रों की लड़ाई है। यह प्राणी स्वभाव से शान्त प्रकृति का है, परन्तु संयोग के समय दोनों में अजीव फुर्ती आ जाती है। शुरु २ में प्रगाढ़ श्रालिंगन होता है, फिर दोनों में से एक श्रपनी श्रीवा के दाई श्रोर से एक चौड़ी श्रौर छोटी-सी थैली को खोलता है। यह थेली तन कर कटार जैसी हो जाती है और गले के साथ ऐसी लगी होती है मानो दीवार के साथ चिपकी हुई हो। इस अजीव हथियार से दूसरे प्रेमी के असुरिवत भाग पर प्रहार किया जाता है। वह भी जल्दी-से अपने खोल में घुस कर इस आघात . से वचने की पूरी कोशिश करता है। परन्तु अन्त में किसी खुले स्थान पर चोट लग ही जाती है और उस के लगते ही इस प्रेम-प्रहार का बदला लेने के लिये आहत-स्नेल उद्घिग्न हो उठता है , श्रीर श्रपने प्रतिद्वन्दी को चोट पहुँचाने में कुछ उठा नहीं रखता । इस प्रेम-कलह में उन की कटारों पर लगे छोटे २ काँटे प्रायः

दूर कर ज़मीन पर गिर पड़ते हैं अथवा उन के ज़ड़मों पर चिपक जाते हैं। इस प्रारम्भिक उत्तेजना के कुछ देर बाद दोनों स्नेल चेतन हो कर श्रिषक प्रवलता से लड़ने के लिये श्रागे वढ़ते हैं। श्रव वह कटार संकुचित हो कर शरीर में श्रा जाती है श्रीर एक दूसरी छोटी थेली दोनों के उत्पादक-छिद्रों में से निकल कर श्रागे को बढ़ जाती है। यह स्नेल की जननेन्द्रिय है, श्रीर इस पर दो छिद्र दिख़ाई देते हैं। क्योंकि स्नेल उभय-लिंगी है—श्रयात् नर तया मादा दोनों है—इसिलये इन दोनों छिद्रों में से एक तो स्नेल का मादा होने का छिद्र है श्रीर दूसरा नर होने का। इस दूसरे छिद्र में से दोनों की एक इञ्च लम्बी चाबुक-जैसी नर-इन्द्रिय धीरे २ खुलती है। तब दोनों स्नेल परस्पर संयोग करते हैं श्रीर दोनों के, एक दूसरे से, गर्भ ठहर जाता है।"

श्रोयस्टर भी उभय-लिंगी प्राणी है, उस में भी श्रात्म-संयोग हो

जाता है। श्रारगोनट एक प्रकार की मछली होती है। इस में संयोग बहुत ही विचित्र रूप से होता है। नर के शरीर के बाएँ हिस्से पर एक छोटी-सी यैली होती है जिस में एक छुएडलीदार उपकरण रहता है। यह उपकरण वस्तुतः एक नलिका होती है जिस का सम्बन्ध श्रारडकोषों से होता है। इस नलिका में वीर्य-कण संचित रहते हैं। पूर्ण वृद्धि होने पर वीर्य-कणों से भरी हुई यह यैली श्रारगोनट के शरीर से जुदा हो जाती है, जल में तैरती २ मादा को दूँढ लेती है श्रीर उस के साथ संयोग से मादा के बच्चे पैदा होने लगते हैं।

एक विशेष प्रकार की मक्खी पायी गई है जो लाश की सड़ांद की गन्ध से अपडे देने लगती है। यदि इस मक्खी भक्खी के गन्ध लेने वाले ज्ञान-तन्तु काट दिये जायँ तो वह अपडे देना वन्द कर देती है। नाक पर आधात लगने के अलावा उसे दूसरे स्थानों पर कितनी वड़ी भी चोट क्यों न लगे, वह अपडे देना वन्द नहीं करती। जननेन्द्रिय के साथ घाण के सम्बन्ध का यह अद्भुत उदाहरण है।

कभी २ मधु-मक्खी, नर के साथ संयोग किये विना ही, अपडे देने लगती है और उन अपडों से हमेशा मधुमक्खी नर-मक्ली पैदा होती है। नर के साथ संयोग के बाद वह इसे के कोण्टों में अपडे देती है और उन अपडों से हमेशा मादा-मक्खी पैदा होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस में अपनी इच्छा के अनुसार, विना संयोग के, अग्रेड पैदा करने की शक्ति है जिस से नर-मिक्वयाँ पैदा होती हैं। मधु-मिक्सयाँ, वड़ी मेहनत से, सैंकड़ों नर-मिक्सयों को एक रानी-मक्ख़ी के सुख़ के लिये पालती हैं। जब मधु-मिक्कियों की 'रानी' संयोग के लिये आकारा में उड़ती है तो नर-मिक्लयाँ उस के पीछे हो लेती हैं। जब एक नर-मक्खी का रानी-मक्खी से संयोग हो जाता है तव वह अपनी जननेन्द्रिय को उस के शरीरं में छोड़ कर मर जाता है। श्रन्य नर-मिक्खयाँ श्रव किसी काम की नहीं रहतीं श्रतः पतमाड़ में शक्तिशाली मिक्सयाँ उन का संहार कर देती हैं।

तितली का जनन-सम्बन्धी जीवन भी अनोला हैं। यह कुछ महीनों तक रोमावृत श्रवस्या में रहती है--फिर, तितली साल, दो साल तक चमकते हुए कीट की अवस्था धारण करती है। इस के पीछे दीवार की दराड़ में या पेड़ की छाल के नीचे, रेशम के कीड़े के घर की तरह, एक खोल बना कर सोई रहती है । श्रन्त में शानदार, रंग-त्रिरंगे परों का शृंगार कर टहनी से टहनी पर भँडराने लगती है । इसे भोजन की भी श्रावश्यकता नहीं होती । मादा बड़ी शान्त होती है, चुपचाप पड़ी रहती है। नर की घाण-शक्ति इतनी तीत्र होती है कि उसे कई मीलों से मादा की गन्ध था जाती है थ्रौर ज्योंही वह उड़ने योग्य हो जाता है फ़ौरन खेतों श्रोर जंगलों को पार करता हुआ अपनी त्रिया के पास जा पहुँचता है। प्रण्य के प्रयम मिलन में ही वह श्रभागा इस संसार से चल बसता है। इस के बाद मादा भी श्रनगिनत श्रग्रहे जन कर तत्क्रण श्रपने प्रीतम के पास उस लोक में पहुँच जाती है। यह प्रेम की कैसी करुए कहानी है!

प्रकृतिवादी फ़ेकर महोदय ने चींटियों के जनन-सम्बन्धी जीवन के विषय में अनेक आश्चर्य-जनक बातें पता लगाई हैं। उन का कथन है कि कई चींटियाँ एसी होती हैं जिन में मादा संयोग के लिये उड़ती है। अनेक नर-चींटे उड़-उइ कर उसका आलिंगन करते हैं और उस के पीछे ही व मर जाते हैं। इस प्रकार मादा के पास वीर्य-कर्णों की एक धरोहर हो जाती है जिस में विविध नरों के वीर्य-कर्ण सुरिच्नित

रखे रहते हैं। इस के बाद वह वह साल तक, कम-से-कम ११ वा १२ साल तक, बिना किसी नर के संयोग के अगडे पैदा कर सकती है। वस्तुतः, यह वड़े अचम्भे की बात है कि इतने समय तक वीर्य-कण पूर्ण रूप से सुरिचत पड़े रह सकते हैं।

वड़े प्राणी और मनुष्य

बड़े प्राणियों में नर तथा मादा के उत्पादक-तत्वों के मिलने से जीवन उत्पन्न होता है। इस क्रिया के लिये कुछ सहायक तथा छात्रस्यक इन्द्रियाँ भी परमात्मा ने बनाई हैं—नर में 'शिश्न' तथा मादा में 'योनि'।

प्रत्येक जाति में — आदमी, घोड़ा, नकरी, सभी में — नर तया मादा के जनन-सम्बन्धी गृह्य-अंग एक दूसरे को दृष्टि में रख कर ही वनाये गये हैं। प्रत्येक जाति के नर तथा मादा के गृह्य-अंगों में एक आध्यर्य-जनक पारस्परिक अनुकूलता पाई जाती है। यह प्रकृति का वड़ा भारी चमत्कार है। यह आवश्यक आयोजन अपनी जाति को हमेशा बनाये रखने का जहाँ शक्तिशाली उपाय है वहाँ दो विभिन्न जातियों के मिलने के मार्ग में रुकावट भी है।

नर तथा मादा की जननेन्द्रियों के मेल को 'संयोग' कहते हैं। संयोग ही जनन-प्रक्रिया है। जनन-प्रक्रिया में वीर्य-क्रण रजःक्रण से सिर्फ़ मिल ही नहीं जाता परन्तु रजःक्रण की पतली-सी मिल्ली को चीर कर अन्दर युस जाता है और उस के अन्दर के द्रव्य से मिल जाता है। फिर रजःक्रण की वृद्धि होने लगती है श्रौर उस का कम वही होता है जिस का वर्णन 'कोष्ठ-विभजन' की किया में पहले किया जा चुका है। कई मछलियों के रजःकर्णों में छोटे-छोटे छिद्र देखे गये हैं जिन के द्वारा वीर्य-क्रण को उन के अन्दर प्रविष्ट होने का मार्ग मिल जाता है। वीर्य-कर्ण की एक ल-त्री-सी पूँछ होती है, उस की सहायता से वह रजःकण को हूंढता हुआ योनि में गति करता है। रजःकण की पृष्ठ को छूते ही वह उसे चीर कर जल्दी से अन्दर ग्रस जाता है। तत्पश्चात्, रजःकण की पृष्ठ का द्रव्य वाहर से जम जाता है जिस से उसे कोई अन्य वीर्य-कर्ण चीर कर प्रविष्ट नहीं हो सकता। यह जमाव रजःकरण की रचा के लिये कवच का काम देता है। जब कभी रुग्ण रजःकण में कई वीर्य-कण प्रविष्ट हो जाते हैं तो एक श्रद्भुत् प्राणी की उत्पत्ति होती है। यदि रजःकण में दो नीर्य-करण प्रविष्ट हो जायँ तो एक मिला हुआ जोड़ा पैदा होता है । परन्तु यह श्रस्वाभाविक श्रवस्था है।

जब रजःक्रण वीर्य-क्रण से संयुक्त हो जाता है तब 'गर्भ' रह जाता है। रजःक्रण शीघ्र ही गर्भाशय की आभ्यन्तरिक मिल्ली पर चिपक जाता है और गर्भावस्था का समय प्रारम्भ हो जाता है। मनुष्य-जाति में प्रायः यह समय कलैग्डर के नौ महीनों या चान्द्रमास के दस महीनों का होता है। इस समय स्त्रियों को मासिक-धर्म नहीं होता। यद्यपि कई स्त्रियों में, गर्भ ठहरने पर भी, विशेषतः प्रारम्भिक महीनों में, मासिक-धर्म, कुछ विकृत रूप में पाया जाता है, तथापि यह असाधारण अवस्था है।

गर्भ के समय रजःकण् विकास की विविध अवस्याओं में से गुज़रता है। इन में से कई परिवर्तन हूबहू वही होते हैं जो हमें भिन्न-भिन्न प्रकार के छोटे प्राणियों में मिलते हैं। एक समय त्राता है जब बढ़ता हुत्रा मानवीय-श्रूण त्रएडे से पेटा हुई छोटी-सी चिड़िया जैसा होता है। फिर समय याता है जन कि वह कुत्त की शक्ल से इतना मिलता है कि बढ़े-बड़े विज्ञानवत्ता धोखा खा सकते हैं। ऐसा भी समय त्याता है जब श्रृण के हाय-पाँव एक ज़ास मछली के वाजुओं से विल्कुल मिलने लगते हैं। इस के वाद श्रूण का सारा शरीर वन्दर की तरह वालों से ढक जाता है। भ्रूण की क्रमिक वृद्धि के इन दृष्टान्तों को देकर विकासवादी कहा करते हैं कि मनुष्य तथा अन्य छोटे प्राणियों का उद्भव स्थान एक ही है। परन्तु यह उन की भूल है। इन उदाहरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि सब की उत्पत्ति एक ही से हुई है ; हाँ, यह अवश्य पता चलता है कि इन विविध योनियों को बनाने वाला एक ही हाय है जिस की कारीगरी के एक-ही-से निशान सर्वत्र विखरे हुए दिखाई देते हैं।

चतुर्थ अध्याय

उत्पादक-श्रंग

विद्यते अञ्याय में जनन-प्रक्रिया का वर्णन हो चुका ; इस अञ्याय में जनन के श्रंगों का शारीर-शास्त्र की दृष्टि से वर्णन किया नायगा । शरीर में उत्पादक-श्रंग नगत्स्रष्टा प्रमु की रचना-शक्ति के प्रतिनिधि हैं। पापी तथा श्रष्ट लोग इन श्रुंगों का बुरा उपयोग करते हैं, अन्यया व इतने ही पवित्र हैं जितना शरीर का कोई भी दूसरा श्रंग। वालकों को इन श्रंगों के विपय में उल्टे-सीधे तरीके से जो कुछ मालूम हो सकता है उस का संप्रह करने में ने कुछ उठा नहीं रखते । परिणाम यह होता है कि उन के विचार कु-संस्कारों की बद्द्यू से दुर्गन्वित हो जाते हैं श्रोर उन्हें ठीक-ठीक किसी वात का पता भी नहीं चलता । इस अञ्चाय का विषय है--उत्पादक-ग्रंग । इन ग्रंगों के सम्बन्ध में विद्यार्थी का मस्तिष्क रहस्य के काले-काले वादलों से घिरा रहता है । व वादल वनीभूत हो कर उस गुनक की जीवन-नौका को तृफ़ान से धकेलते हुए डावाँडोल न कर दें, इसलिये इन अंगों का ज्ञान वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक के लिये श्रावश्यक है। इन श्रंगों का अध्ययन प्रत्येक विद्यार्थी को इतने ही आत्म-संयम और एकाग्र-चित्त से करना चाहिये जितने से वह जीवन-सम्बन्धी अन्य किसी त्रावश्यक विषय का मनन करता है।

स्त्री के उत्पादक-संस्थान के ग्रंग शरीर के भीतर तथा पुरुष के वाहर स्थित होते हैं। हम केवल पुरुष के उत्पादक-संस्थान का वर्णन करेंगे।

पुरुष की जननेन्द्रिय को शिशन कहते हैं। यह खोखला-सा, स्पञ्ज जैसा अवयव है । इस का प्रधान कार्य शिष्टन मूत्रोत्सर्ग है। परिपक्तावस्या में, २५ वर्ष के वाद, यह अंग जनन के काम भी आ सकता है, परन्तु उस अवस्था से पूर्व बुरे विचार से इस श्रंग को हाथ भी लगाना श्रात्मघात की तरफ पाँव वढ़ाना है। कुचेप्टाओं से यह श्रंग शिथिल हो जाता है, श्रन्यया संयमी पुरुष की इन्द्रिय छोटी भी हो तो भी उसका उत्पा-दन-शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस श्रंग में अनेक रक्त-वाहिनी प्रणालिकाएँ रहती हैं। कामभाव के विचारों से शरीर का रुधिर इन प्रणालिकाओं की तरफ जाने लगता है और जननेन्द्रिय उत्तेजित हो उठती है । इस प्रकार की उत्तेजना जिन कारणों से होती हो उन से बचना चाहिये। क्यों ?--क्यों कि यह रुधिर कुछ देर जननेन्द्रिय में टिकने के वाद जीवन-रहित हो जाता है। संचित-रुधिर प्रायः थोड़ी देर के बाद जीवन-रहित हो ही जाया करता है। उत्तेजना हट जाने पर यह रुधिर फिर शरीर में गति करने लगता है और सारे रुधिर को अपने गन्दे अंश से ख़राव कर देता है। डा॰ कीय ने अपनी पुस्तक 'सेवन स्टडीज़ फ़ौर यंगमेन' में अपने इस विचार की सप्रमाण पुष्टि की है। माता-पिता को स्मरण रखना चाहिये कि वालकों में जननेन्द्रिय-

सम्बन्धी ख़राचियों का सूत्रपात उस दिन से प्रारम्भ होता है । व इसे किस दिन से उन्हें पहले-पहल उत्तेजना का श्रानुभव होता है । व इसे खेल की चीज़ समभाने लगते हैं । पीछे इसी खेल के साथ कई रहस्य जुड़ जाते हैं श्रोर युवक का जीवन नप्ट होने लगता है । उसे समभा देना चाहिये कि यह खेल उसे किसी दिन रुलाएगी । मेरे पास सेंकड़ों पत्र पड़े हैं जिन में लड़के अपने पिछले दिनों को रोत हैं । हाँ, व बीते दिन तो नहीं लौट सकते परन्तु श्रागामी श्राने वाली सन्तति उन के श्रांसुश्रों से सचेत ज़रूर हो सकती है । शिरन का गात्र पतली त्वचा से मुख तक दका रहता है ।

मुएडाग्रचर्म हैं क्योंकि यह शिश्न के मुएड को ढाँपता है। मुसलमानों तया यहृदियों में मुग्डाग्र-चर्म को कटवा देना धार्मिक कर्तञ्य समभा जाता है। इस कृत्य को वे ख़तना कहते हैं। उत्तरी भारत में कहर पंडित लग्नशंका जाते समय पानी साथ ले जाते हैं और इन्द्रिय-स्नान कर लेते हैं । कई लोग इसी कार्य के लिये मही का इस्तिमाल करते हैं। लगुरांका के वाद मूत्रेन्द्रिय की न घोने से गन्द इकट्ठा हो कर फोड़े-फिन्सी पैदा कर देता है। मुगड़ाग्र-चर्म के अन्तः प्रष्ठ पर कई छोटी-छोटी प्रन्थियाँ होती हैं जिन में से एक ख़ास प्रकार का स्नाव निकलता है। इस चर्म को घीर-से मुग्ड पर से हटा कर स्नाव को घो डालना चाहिये नहीं तो वह इकट्ठा हो कर उत्तेजना श्रीर वेचैनी पेटा करता है। कई श्रवस्थार्थों में मुग्डाय-चर्म बहुत तंग होने से पीछे को नहीं हटता,

1

इस प्रकार शिश्न-मुग्ड का मुख न खुलने से वह ठीक तौर पर धुल नहीं सकता। किसी-किसी का यह चर्म बहुत लम्बा और चिपका रहता है। ऐसी अवस्थाओं में आगे बढ़े हुए मुग्डाप्र-चर्म को किसी कुशल शल्य-चिकित्सक से कटवा डालना चाहिये ताकि तत्सम्बन्धी बहुत से दुःख तथा रोग न हो सकें। नवयुवकों की ७५ फ़ी सदी शिकायतें दूर हो नायँ यदि वे धीर-से मुग्डाप्य-चर्म को शिश्न-मुग्ड से हटाकर उसे शुद्ध, शीतल जल से धो लिया करें। शिश्न-मुग्ड में शरीर की ज्ञान-बाहिनी शिराएँ केन्द्रित होती हैं आतः यह स्नान सम्पूर्ण मिन्तिष्क में शीतलता पहुँचा देता है और वालक अनुनित उत्तेजना से बचा रहता है।

शिशन की सारी लम्बाई में से होकर गुज़रनेवाली प्रणाली को मूत्र-प्रणाली या अँग्रेज़ी में 'यूरिग्रा' कहते हैं। मूत्र-प्रणाली शिशन की तरह इस के भी दो कार्य हैं; मूत्राशय में स्थित मूत्र को वाहर निकालना; गुकाशय में स्थित शुक्र को वाहर निकालना। मूत्र-प्रणाली के यद्यपि दो कार्य हैं तथापि एक समय में यह एक ही काम करती है। मूत्र-प्रणाली का रास्ता मूत्राशय (ब्लेडर) तक जाता है। अन्दर से यह वैसी ही श्रेष्टम-कला—सिल्ली—से बकी होती है जैसी गुख तथा गले के भीतर पायी जाती है। मूत्र-प्रणाली को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

१. स्पत्नी मूत्र-प्रणालीः—यह शिश्न के मुख से ६ इञ्च अन्दर तक फैली होती है। इस के चारों तरफ़ ऐसी मांस-पेशियाँ

ķ

होती हैं जिन की सहायता से मूत्र, नीर्य या अन्य कोई श्रेष्टमामय पदार्थ सुगमता से शरीर के नाहर आ जाता है।

२. कलामय मूत्र-प्रणाली:—यह मूत्र-प्रणाली का मध्यवर्ती भाग है जो कि स्पन्नो मूत्र-प्रणाली की समाप्ति से अष्ठीला-ग्रन्थि (प्रोस्टेट ग्लेंड) तक फैला रहना है । इस हिस्से की लम्बाई लगभग एक इञ्च होती है । इस भाग की मांस-पेशियाँ किसी रोग के कीटाणु को वाहर से भीतर आते हुए रोकती हैं और मूत्राशय में स्थित मूत्र के द्वार को वश में रखती हैं।

३. त्रष्ठीलागतमूत्र-प्रणालीः—यह मूत्र-प्रणाली का श्रान्तमं हिस्सा है जो श्रष्ठीला-प्रन्यि के बीच में से हो कर मूत्राशय के मुख तया शुक्र-वाहिनी नाड़ियों से मिल जाता है। यह प्रणाली चारों तरफ से श्रष्ठीला-प्रन्यि से घिरी रहती है। साधारणतः यह १ है इञ्च लम्बी होती है। श्रष्ठीला-प्रन्यि के रोगों का श्रष्ठीलागतं मूत्र-प्रणाली पर असर पड़ता है। श्रष्ठीलागत मूत्र-प्रणाली में ही लयुशंका तथा जनन-सम्बन्धी इच्छा की ज्ञान-वाहिनियों के केन्द्र रहने हैं।

मूत्र-प्रणाली का मुख कोणाकार होता है, इसे मुग्ड (ग्लैन्स)
कहते हैं । इस में अनेक वसामय अन्यियाँ होती
मुग्ड
हैं जिन से एक प्रकार का स्नान होता रहता है ।
इस स्नान को हमेशा घोकर साफ़ कर देना चाहिये । जैसा पहले
लिखा जा चुका है इन अंगों का प्रचालन न होने से युक्कों को
अनेक कर उठाने पड़ते हैं । गन्दगी से उत्तेजना और शोध हो

जाती है। मुगड की त्वचा वड़ी नाजुक होती है क्योंकि मेर-दग्ड की अनेक ज्ञान-वाहिनी शिराएँ इस में समाप्त होती हैं। इस भाग को खुला नहीं रखना चाहिये और नाही धोने के सिनाय अन्य किसी समय छूना चाहिये।

कलामय मूत्र-प्रणाली की समाप्ति पर मटर के वरावर दो पिएड होते हैं जिन्हें क्रूपर की य्रान्यियाँ कहते हैं। क्रूपर की ये प्रणाली के दोनों खोर शिश्न के मूल के बहुत समीप स्थित होते हैं। जब उत्तेजना होती, है तब

इन में से एक द्रवस्रवित होकर मूत्र-प्रणाली में चला जाता है जो कि विशुद्ध एवँ चारीय रलेष्मा का होता है। मूत्र की प्रति-क्रिया अम्ल होती है। यही कारण है कि मूत्र के मूत्र-प्रणाली में से वार-वार गुज़रने के कारण उस की प्रति-क्रिया भी अम्ल रहती है। यदि मूत्र-प्रणाली में प्रकृति द्वारा यह चिक्रना चारीय द्रव स्रवित न हो तो वीर्य-क्रण की जीवनी-राक्ति अम्ल द्वारा अवश्य नष्ट हो जाय। क्रूपर की अन्यियों से स्रवित रलेष्मा मूत्र-प्रणाली की अम्ल-प्रति-क्रिया को उदासीन कर देती है। इम प्रकार वीर्य-क्रण के लिये चारीय मार्ग वन जाता है।

उत्तेजना के समय, कूपर की ग्रन्थियों का स्नाव, अनेक वार वीर्य के बिना भी निकल जाता है। नौ-जवानों को कुछ पता नहीं होता, वे समम्मने लगते हैं कि उन का वीर्य नष्ट हो रहा हैं। भाट वे नीम-हकीमों का आसरा हूँढने लगते हैं। वे भी अच्छा शिकार हाथ लगा जान, और सम्भवतः कुछ न जानते-बूम्हते होने के कारण भी, वेचारे को डराने लगते हैं। यदि कोई यमराज के इन दूतों के पल्ले सीधा नहीं पड़ता तो इश्तिहारों के जरिये तो ज़रूर ही इन के काबू आ जाता है। इश्तिहारों की भाषा इतनी चुम्त होती है कि जो आदमी समम्तता भी हो कि द्वाइयों से कुछ नहीं बनता वह भी कभी-न-कभी किसी द्वा को आजमाने की सोचने ही लगता है, हालाँकि इन द्वाइयों से हानि-ही-हानि होती है। स्वयं वीर्य-नाश हो जाना ऐसे ही बैठे-बैठे किसी को नहीं होता। कूपर की अन्यियों के स्नाव को अक्सर वीर्य समम्करर नो-जवान डरने लगता है। विना मानसिक उद्देजन के वीर्य-नाश तभी होता है जब किसी ने अपने को बहुत अधिक गिरा लिया हो। इस अवयव का कुछ भाग अन्ययों से और कुछ मांस-पेशियों

से मिल कर बना है। यह मूत्राशय की ग्रीवा के वाष्ट्री छा-ग्रन्थ नीचे स्थित होता है और उस स्थान पर मूत्र-प्रणाली को चारों तरफ़ से घेरे हुए रहता है। अथवा थों कह सकते हैं कि मूत्र-प्रणाली अष्ठीला-ग्रन्थ (प्रोस्टेट ग्लैंड) में से होकर मूत्राशय के साथ मिलती है। इसी कारण मूत्र-प्रणाली के तीसरे भाग को अष्ठीलागत मूत्र-प्रणाली कहते हैं। यह एक छल्ले की तरह मूत्राशय के मुख तथा मूत्र-प्रणाली के जोड़ पर लगा होता है। साधारणतः यह १६ इञ्च लम्बा और सवा तोले से छक्ष अधिक भारी होता है।

इस का जनन-प्रक्रिया से विशेष सम्बन्ध है, इसीलिये अगड-कोष निकाल देने पर यह नष्ट हो जाता है। वृद्धावस्था में भी

यह स्वभावतः चीण हो जाता है। जननेन्द्रिय के मिथ्यायोग वा अतियोग से बुढ़ापे में कइयों को अप्ठीला की वृद्धि की शिकायत हो जाती है जिस से मूत्र-मार्ग में रुकावट होना स्त्राभाविक हैं। कामोत्तेनना के समय इस यन्यि की प्रणालिकाएँ विशेष प्रकार के स्नाव से भर जाती हैं। यह स्नाव मूत्र-प्रणाली में जाकर वीर्य के साय मिल कर उस का हिस्सा वन जाता है। कूपर की यन्त्रियों की तरह यह प्रन्यि भी काम-भाव के समय ही स्रवित होती है, परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि इस का स्नाव भी वीर्य नहीं है । शुक्र दो भिल्लीदार येलियों में रहता है जो मूत्राशय के त्राघार तथा गुदा के बीच में स्थित होती हैं। शुक्राशय अगडकोपों से स्रवित वीर्य इन में संचित होता है। काम-भाव उत्पन्न होने पर इन में से भी एक द्रव निकलता है जो उत्पादक-श्रंगों के श्रन्य सावों में मिल जाता है। इन सावों का उद्देश्य वीर्य-ऋण् को तैराते-तैराते वाहर वहा ले जाना भी होता है। शुकाराय कई कुएडलियों तया कत्तों के वने हुए हैं। इन का तंग सिरा अष्ठीला-प्रन्थि की तरफ़ होता है। इन की श्रोसतन लम्बाई २% इञ्च होती है। इन में वीर्य रहता है। यह वीर्य या तो शरीर में खप जाता है, या दो गुक्रसारिणी प्रणालियों द्वारा, नो इकट्ठी ही अष्ठीला-प्रन्यि में से गुन्र कर अष्ठीलागत-मूत्र-प्रणाली में खुलती हैं, वाहर निकल जाता है। शुक्राशय की स्थिति को जानकर अब यह समस्तना कठिन नहीं कि नाभि श्रीर जनन-शक्ति का कितना चनिष्ट सम्बन्ध है। लगभग गुकांशयः की सीध मं, रीट की हड्डी में, जनन-सम्बन्धी श्रंगों को नियमित रखनेवाला वड़ा केन्द्र है जिसे श्रंथेज़ी में 'लम्बर-हॅक्सस' कहते हैं। इसीलिये सन्ध्या करते हुए 'जनः प्रनातु नाभ्याम्'—श्रंथीत् सब का उत्पादक परमात्मा हमारी नाभिमें स्थित जनन-शक्ति को पवित्र करे—इस वाक्य का उच्चारण किया जाता है।

गुक्राशय का स्नाव, एलञ्यूमिन श्रीर ज्ञारीय लवणों के नलीय घोल का बना होता है। प्रकृति ने गुक्राशय में इस स्नाव को ज़ास दृष्टि से तैयार किया है। यह पता लगा है कि वीर्य-कण श्री की जननेन्द्रिय में रजःकण की प्रतीज्ञा में कई दिन तक पड़ा रहता है। यदि वीर्य-कण शीघ्र ही रजःकण से संयुक्त हो जाय तो बड़ी स्वस्य श्रीर जलवान सन्तान उत्पन्न होती है। यदि उसे प्रतीज्ञा करनी पड़ती है तत्र उसकी प्रष्टि के लिये गुक्राशय में निकले हुए एलञ्यूमिन तया प्रोटीन श्रीर जीवन की चेतना के लिये लवण श्रावश्यक होते हैं।

स्वप्त में शुकाराय से वीर्य-स्वलन को स्वप्त-दोप कहते हैं। इस का मुख्य कारण बुरे स्वप्तों से शरीर तथा मन का उत्तेजित हो जाना है। ऐसे स्वप्तों का शुकाशय पर प्रभाव पड़ता है श्रीर वीर्य स्वलित हो जाता है। इस से बचने के लिये मानसिक पिवत्रता श्रावश्यक है। धार्मिक-पुन्तकों तथा महापुरुषों के जीवनों के मनन से मन उत्तम विचारों से भर जाता है। उत्तम पुस्तकों के श्रव्हे, चुने हुए स्थलों का वार-वार दोहराना मन को पिवत्र रखने के लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध हुश्रा है। कई वार स्वप्नदोपका कारण सिर्फ़ शारीरिक होता है। जिसा पहले बतलाया जा चुका है शुक्राशय, गुदा और मूत्राशय के बीच में स्थित है। गुदा और मूत्राशय जब भरे हुए होतं हैं तब उनका शुक्राशय पर अनुचित द्वाव पड़ता है जिस से उत्तेजित होकर वीर्य स्वलित हो जाता है। इसलिये जिन्हें स्वध-दोप की शिकायत हो उन्हें रात को सोने से पहले आँतों और मूत्राशय को साफ़ कर लेना चाहिये।

यहाँ तक हम ने उत्पादक-श्रंगों का वर्णन इस कम से किया
है जिस से ये एक दूसरे से क्रम-पूर्वक सम्बद्ध हैं,
अगडकोश
परन्तु क्योंकि अगले अवयवों को समभाने के
लिये अगडकोश-सम्बन्धी ज्ञान की पहले आवश्यकता है अतः हम
कम बदल कर उन्हीं से चलते हैं ताकि समभाने में कठिनता न हो।

श्राडकोश त्वचा की येली है जिस में छोटी-छोटी तहें हुई-हुई हैं। इसमें दो श्राड, एक दाई तया दूसरा वाई श्रोर, रहते हैं। किशोरावस्था में कुछ गुँघरीले वाल इस त्वचा पर निकल श्राते हैं। इस त्वचा को घोकर ख़ूव साफ़ रखना चाहिये नहीं तो खुजली होने लगती है। यह येली श्रन्दर से एक पतली तह के द्वारा दो भागों में, दोनों श्राडों के श्रलग-श्रलग रहने के लिये, विभक्त होती है। मनुष्य के स्वास्थ्य को श्राडकोशों की स्थिति ठीक वता सकती है। वच्चों, स्वस्य श्रीर वलवान लोगों का कोश सट कर सुकड़ा रहता है, सदीं में भी ऐसा ही होता है; वृद्धों, कमज़ोरों, चीए प्रुक्षों के तथा गर्मी के समय कोश लम्बे तथा पिलिपिले से हो जाते हैं। इन कोशों में अग्रड, वीर्य-वाहिनी रञ्जु द्वारा, लक्ष्के रहते हैं। यह रञ्जु दाई की अपेन्ना वाई ओर अधिक लम्बी होती है जिस से वायाँ अग्रड दाएँ की अपेन्ना अधिक नीचे को लक्ष्का होता है। कई अवस्थाओं में बच्चे के उत्पन्न होने के कुछ देर वाद अग्रड उत्तर कर अग्रडकोश में आते हैं। व्हेल मछली तथा हाथी में अग्रड जीवन-भर उन की कोष्ठगुहा (एबडोमिनल कैविटी) में ही रहते हैं। मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में ऐसा नहीं होता। यदि कहीं पाया भी जाय तो वह अपवाद समम्मना चाहिये।

वसे के पैदा होने से पहले अगड, कोष्ठगुहा में रहते हैं और उत्पत्ति के बाद उतर कर कोशा में आ जाते के । कई अवस्थाओं में अगड उतर कर कोशा में नहीं आते जिस का फल यह होता है कि उन की वृद्धि और कार्य शिथिल हो जाते हैं । कभी-कभी सिर्फ़ एक अगड प्रकट होता है । ये चपटे, अगडाकार तथा पौने औन्स से एक औन्स तक भारी होते हैं । दायाँ बाएँ से बड़ा और भारी होता है । यह स्मरण रखना चिट्टें कि इन का आकार नहीं अपितु खास्थ्य ही इन के कार्य में सहायक होता है । पुरुष के अगड की तरह स्त्री में 'ओवरी' होती हैं जिन से एक रजःकण प्रतिमास मासिक-धर्म के बाद निकलता है । स्त्री की 'ओवरी' शरीर के भीतर स्थित होती हैं । प्रचलित भाषा में अगडकोश शब्द का अगड के अर्थों में प्योग होता है ।

प्रत्येक 'श्रग्रड' कई खिगडिकाश्रों (लोब्यूल्स) से मिल कर बिगडिका बहुत ही बारीक प्रणालिकाश्रों के जाल से बनी होती हैं । वह जाल भी भीतर-बाहर से सुद्म रक्त-बाहिनियों से श्राच्छादित रहता है । इन खिगडिकाश्रों में ही वीर्य-कण वनते हैं, सम्भवतः इसीलिये संस्कृत में इसे 'श्रग्रड' कहा गया है ।

खिर कार्यों की वारीक प्रणालिकाएँ मिल कर एक वड़ी प्रणालिका में मिलती हैं और ये वड़ी प्रणालिका में मिलती हैं और ये वड़ी प्रणालिका में मिलती हैं जिसे 'उपायड' (एपीडिडीमस) कहते हैं। ये अगड़ को कुछ उपर से और कुछ नीचे से आवृत करती हैं और लगातार दोहरे होते हुए वगड़लों की-सी वनी होती हैं। अगड़ की वहि: निस्सारक प्रणाली का यह प्रारम्भिक भाग है और अगड़ में से निकलता हुआ वीर्य-कण पहले-पहल इसी में इकट्ठा होता है।

काम से उत्तेजित होनेपर श्रग्ड में शुक्र-क्रण बन कर उपाग्ड में श्रा जाता है। यहाँ से धक्का पा कर वह शुक्र-वाहिनों जिस बहि: निस्तारक प्रणाली में पहुँचता है उसे शुक्रवाहिनी (वॉस डेफ़्रन्स) कहते हैं। इस में से हो कर शुक्र, शुक्राशय में, जिस का वर्णन पहले हो चुका है, चला जाता है। शुक्र-वाहिनी का व्यास पेन्सिल के सिक्के के बरावर श्रोर लम्बाई लगभग दो फ़ीट होती है। यह मूत्राशय के नीचे से होती हुई कोष्ठ की दीवार के सहारे उत्तर चढ़ कर शुक्राशय से मिल जाती है। शुक्राशय से वीर्य दो शुक्र-सारिणी प्रणालियों द्वारा, जो शुक्र-सारिणी क्ष्मारिणी क्ष्मारिणी निकलता है। यदि पूर्यमेह आदि रोग अष्ठीला-गत मूत्र-प्रणाली तक फैल जाय तो वह अवश्य ही शुक्र-सारिणी प्रणाली के द्वारा शुक्राशय, शुक्र-वाहिनी, उपायड और अयडकोश तक फैल कर सम्पूर्ण उत्पादक-अंगों को आक्रान्त कर लेता है।

जब काम-भाव से अएडकोशों में उत्तेजना होती है तो उन में से हज़ारों शुक्र-कण निकल-निकल कर शुक्र-शुक्र-कण वाहिनी से शुक्र-सारिणी तक सम्पूर्ण श्रंगों को भर देते हैं। शुक्र-कण की एक पूँछ-सी होती है जो अपने गात्र से लंम्बी होती है। इसे सूच्य-बीचण-यन्त्र द्वारा ही देख सकते हैं। गुक्र-कर्णां को श्रॅंप्रेनी में 'स्पर्मेटीनोश्रा' कहते हैं। ये एक द्रव में तैरते रहते हैं जिसे 'वीर्य' कहते हैं। ये अत्यन्त सूच्म होतं हैं। एक वार के वीर्य-एखलन में २ करोड़ से ५ करोड़ तक शुक्र-कण पाये गये हैं। इन में से प्रत्येक में रजःकण से संयुक्त होकर नव-नीवन उत्पन्न करने की शक्ति होती है। शुक्र-क्रण स्त्री के शरीर में प्रविष्ट होकर रजःक्षा की खोज में इधर-उधर घूमने लगता है और उस के मिलते ही उस से संयुक्त हो जाता. है। यदि रजःकण स्त्री के शरीर में उस समय तय्यार न हो तो वह कई दिन तक उस की प्रतीचा में वहीं उहरता है अथवा उस की दूँह में स्त्री की 'श्रोवरी' तक पहुँच जाता है। यदि

रजःकण से उस का मिलाप नहीं होता तो वह वाहर वह जाता है। प्रत्येक शुक्र-कण तया रजःकण माता-पिता के भिन्न-भिन्न गुणों का प्रतिनिधि होता है। यही कारण है कि सब भाई एक-में न होकर भिन्न-भिन्न गुणों के होते हैं। किसी में एक गुण्वाले वीर्य-कण का विकास हुआ होता है, किसी में दूसरे का। इसी कारण कभी-कभी दादे और पोते के गुणों में समानता पायी जाती है। पिता में शुक्र-कणों के जिन गुणों का विकास नहीं हुआ होता, पुत्र में उन का हो जाता है।

शुक्र-करण पर शरात्र आदि मादक-द्रन्यों का असर भट पड़ता है। और किसी के लिये नहीं तो बच्चे की ही ख़ातिर मादक-द्रन्यों से प्रत्येक गृहस्थी को बचना चाहिये। यद्यपि वीर्य-कर्ण अनिगनत होते हैं तयापि इन में से केवल एक ही रज्ञ:करण के भीतर प्रविष्ट हो सकता है। फिर, शेप सब धुल जाते हैं। गर्भ रह जाने पर खी-संग से अूण की वृद्धि में बाधा होती है। इस बात को सदैव स्मरण रखना चाहिये कि एक वीर्य-कर्ण के रज्ञ:कण से संयुक्त हो जाने पर फिर कोई शुक्र-कर्ण रज्ञ:कर्ण से संयुक्त नहीं हो सकता। संयोग हो चुकने पर लाखों शुक्र-करण भी भूण की वृद्धि में कोई सहायता नहीं पहुँचा सकते; हाँ, हानि ज़रूर पहुँचा सकते हैं। अनेक युवक इस छोटे-से सिद्धान्त से अपरिचित होने के कारण जीवन में ख़राब होते हैं।

वड़े-वड़े वैज्ञानिकों का कयन है कि पुरुष के शुक्र-करण २ ४ वर्ष तथा स्त्री के रनःकरण १६ वर्ष से पहले परिपक्त नहीं होते। इस से पहले याल-विवाह श्रयवा श्रन्य कुचेष्टा द्वारा मनुष्य की ज्ञान-वाहिनी शिराश्रों पर द्वाव पड़ने से शरीर जीए होता है। यदि ये शुक्र-कण वाहर न निकलें तो जहाँ ये नये जीवन को उत्पन्न कर सक्ते थे वहाँ मनुष्य में ही शारीरिक, मानसिक तथा श्रात्मिक नव-जीवन का सञ्चार कर सकते हैं।

बहुत थोड़े लोग शुक्र-कण तया वीर्य में भेद समभते हैं।
शुक्र-कण (सर्म) अगडकोशों से पैदा होते हैं;
बीर्य कई स्नावों का, जिस में शुक्र-कण, शुक्राशय
का स्नाव, अशीला तथा कूपर की य्रान्ययों का स्नाव भी सिम्मिलित हैं,
नाम है। वीर्य का रंग दुधियाला तथा प्रति-िक्तया दुछ-दुछ चारीय
होती है। वीर्य की रासायनिक परीचा से ज्ञात हुआ है कि इस
में खट तथा फ़ास्फ़ोरस की बहुत अधिक मात्रा होती है। जीवन
के लिये ये दोनों ही अत्यन्त आवश्यक हैं, इसीलिये वीर्य-नाश
का शरीर पर वातक असर होता है।

जिस प्कार पुरुप के अग्रहकोश शुक्त-कण उत्पन्न करते हैं इसी प्कार स्त्री के वीजकोश (ओवरी) रजःकण का निर्माण करते हैं । पुरुप की तरह स्त्री के भी दो वीजकोश होते हैं. जो आकृति तथा परिमाण में अग्रहकोशों जैसे ही होते हैं । गर्भाशय की एक-एक तरफ़ एक-एक वीजकोश मांसपेशियों से लटका रहता है । पुरुप के अग्रहकोशों की तरह ये शरीर के वाहर तथा नीचे नहीं आते । बीजकोशों के साथ एक-एक प्रणालिका रहती है जिसे 'फ़ैलेपियन ट्यूव' कहते हैं ।

वीजकोशों से रजःकण इसी ट्यूव में से होकर गर्भाशय में पहुँच जाता है । वहीं शुक्त-कण के संयोग से नया जीवन वनता है। एक घन-इश्च में २४० रजःकण रखे जा सकते हैं। शुक्र-कण् वड़ा फ़र्तीला, श्रौर रजःकण वड़ा सुस्त होता है। इन की संख्या भी उतनी नहीं होती । साधारणतः एक सप्ताह में एक ही रजःकण परिपक्त होता है। स्वाभाविक तौर से स्त्री का रजःकण उस के गर्भाशय में पहुँच जाना चाहिये। वहाँ पर यदि उस का शुक्र-क्या से संयोग होगा तो गर्भ ठहर जायगा । कई वार आकरिमक कारगों से रजःकण का स्वाभाविक मार्ग रुक जाता है । उस समय रजःकण् अपने उत्पत्ति-स्यान 'श्रोवरी' की पीठ से ही चिपट जाता है--- आगे गर्भाराय तक नहीं पहुँच पाता। ऐसी अवस्या में यदि वीर्य-कण वहाँ या पहुँचे तो वहीं गर्भ वड़ने लगता है । यनेक श्रवस्थाओं में अन्य दूसरे स्थानों पर रजःकण पहुँच जाता है और शुक्र-कण के मिलने से वहीं गर्भ वन कर विकृतावस्या पेदा हो जाती है जिसे दूर फरने के लिये शायद डाक्टर का नश्तर ही एकमात्र उपाय रह जाता है । अनेक अवस्याओं में नश्तर भी काम नहीं देता और माता की मृत्यु हो जाती है।

डौसन महाराय अपनी पुस्तक 'कौज़ेरान ऑफ़ सेक्स' में लिखते हैं कि लड़का या लड़की होने में पिता का नहीं परन्तु माता का असर पड़ता है। यदि माता के दाएँ वीज-कोरा से रजःकण आया है तो लड़का होगा, यदिवाएँ से तो लड़की। प्रत्येक महीने एक कोरा से एक रजःकण निकलता है। इस प्रकार यदि१ ६ नवस्त्रर, १८६ ६ को लड़की पेट्रा हुई हो तो गर्भ के २८० दिन या सात दिन के ४० सप्ताह निकाल देनेपर पता चलेगा कि फ़र्वरी के पूथम सप्ताह में गर्भ रहा होगा । यहां फ़र्वरी १८६५ का रजःकण बाई तरफ़ का होगा । यहां से हिसाब युरु हो सकता है । यदि स्त्री के फ़र्वरी मास में गर्भ न टहर कर मार्च में टहरता तो दाई तरफ़ के रजःकण में गर्भ होता, यतः लड़की होने की जगह लड़का होता । इस पृथर पहली सन्तान होने के बाद अगली सन्तानों के विषय में कहा जा सकता है कि लड़का होगा या लड़की । इसी नियम के यावार पर इच्छा-पूर्वक भी सन्तान हो सकती है ।

पुरुष्य मुख्याय

किशोरावस्था, यौवन तथा पुरुपत्व

विशेष परिवर्तन नहीं आता । इस के अनन्तर सहस्य-मय समय प्रारम्भ होता है । १५ वर्ष के वालक की आँखों में से उस के इड़य-रूपी पन्नों पर लिखी हुई भाषा मानो रह-रह कर वोल-सी उठती है । वचपन की सरलता उन में नहीं होती । वे भावपूर्ण होती हैं, देखनेवाले से वात करती-सी मालूम देती हैं, नौ-जवानों के दिल के पढ़ों को खोल-खोलकर सामने रख देती हैं । कौन अवक अपने दिल में उमड़ते भावों को छिपाना नहीं चाहता परन्तु किस की आँखें उस की एक-एक हरकत का . फ़ोटो खींच कर सब के सामने नहीं रख देतीं ?

इस श्रायु में मानिसक परिवर्तनों के श्रितिरक्त शारीरिक परिवर्तन भी पर्याप्त होते हैं। ये सत्र परिवर्तन १५ वर्ष की श्रायु से लेकर २५ वर्ष की श्रायु से पूर्व १ समयान्रसार हो चुकते हैं। जीवन का यह समय रहस्यों से भरा रहता है। इस २५-१५= १० वर्ष के समय में प्रत्येक युवक का मिन्तिक श्रमेक गुप्त तथा बिपी बातों के हूँढने में श्रकेला ही व्यस्त रहता है। इस समय को दो भागों में बाँटा जाता है: किशोरावस्था तथा युवावस्था।

किरारिवस्या में शारीरिक परिवर्तन प्रारम्भ हे। जाते हैं। लड़कों के उपरले होंठ, ठाड़ी तया जननेन्द्रिय-प्रदेश वालों से श्रान्छादित हो नाते हैं। खर-यन्त्र की गहराई बढ़ने से उस की श्रावान नोरदार हो नाती है। उत्पादक-श्रंग वृद्धि पाकर नीवन ं के सारभूत वीर्य का सम्पादन प्रारम्भ कर देते हैं। लड़िकयों को इस अवस्या में मासिक-धर्म प्रारम्भ हे। जाता है। परन्तु यह युवावस्या का प्रारम्भ ही है; पूर्ण युवक तया युवती वनने के लिये अभी काफ़ी समय की ज़रूरत होती है। युवाबस्या का प्रारम्भ हो जाना मात्र किसी युवा पुरुव को शादी के योग्य नहीं वना देता । 'दी सायन्स श्रॉफ़ ए न्यू लाइफ़्' नामक पुस्तक में डाक्टर कोवन लिखते हैं:—"यह समभाना वड़ी भारी भूल है कि किलारावस्या का प्रारम्भ विवाह के लिये श्रतुकूल समय है। लोगों का यह सममाना कि इस समय स्त्री विवाह करने तथा सन्तानीत्पत्ति के योग्य हो गई है, भ्रम मूलक है। शरीर-क्रिया-विज्ञान के अनुसार विवाह सदा समुन्नत-रारीर प्ररूप तथा स्त्री में ही होना चाहिये। किशोराक्त्या के प्रारम्भ में शरीर की श्रास्थियाँ पृर्ण्हप से उन्नत नहीं होतीं, जिस का अर्थ यह है कि उत्पादक-तत्व श्रभी पूर्ण्स्य से परिपुष्ट नहीं हुश्रा होता ।"

युवावत्या का आगमन किशोरावत्या के बाद होता है। सीधे शब्दों में यूँ कह सकते हैं कि १५ से २५ वर्ष तक की आयु के प्रारम्भ को किशोरावस्या तथा समाप्ति को युवावत्या कहते हैं। १५ वर्ष के बाद दो या तीन साल तक किशोरावस्था होती है, उस के बाद लगभग ८ साल तक युवावस्था में शारीरिक तथा मानसिक धन का उपार्जन करना प्रत्येक युवक का कर्तज्य है। अपनी वहीं में पूँजी विना जमा किये व्यापार प्रारम्भ कर देने से जीवन का दिवाला निकल जाता है।

परन्तु किशोरावस्था का प्रारम्भ हमेशा १५ वर्ष से श्रीर नव-योवन का अन्त २५ वर्ष में होना ही निश्चित नियम नहीं है। मानवीय जीवन बड़ा लचकीला है। ये अवस्याएँ नहीं नल्दी त्रा सकती हैं वहाँ इन में देंर भी लग सकती है। इन पर भोजन, वस्त्र तया मनुष्य के रहन-सहन का बड़ा श्रसर पड़ता है। जल-वायु का प्रभाव भी कम नहीं पड़ता। गाँत में सादा, तपम्यामय जीवन व्यतीत करते हुए वालक में किशोरावस्था देर से श्राती है ; भोग-विलास का श्रनियन्त्रित जीवन त्रिताने वाला लड्का बोटी ही श्रायु में टाड़ी-मूँबों वाला श्राटमी लगने लगता है। किशोरावस्था का समय से पूर्व या जाना ख़तरनाक है। श्राशा से ज़्यादह होनहार वालक सन्देह की वस्तु है। काम-भाव का जलदी जाग जाना जीवन को नष्ट कर देता है। अतु में पका फल ही फल है, पाल में पकाने से उस का माधुर्य मारा - जाता है । माता-पिता तथा गुरुनन इस पर जितना ध्यान दें उतना ही योड़ा है।

हाँ, तो फिर मनुष्य के शरीर और मन में इस आकस्मिक परिवर्तन का कारण क्या है ? किन रहस्य-मय कारणों से मनुष्य महत्ते 'किशोर', फिर 'युवा' और अन्त में 'पुरुष' वन जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर भली-भाँति समभने के लिये प्रन्थियों (ग्लेन्ड्म) का कुछ परिज्ञान आवश्यक है। शरीर-क्रिया-विज्ञान वेत्ताशों की खोनों से पता चला है कि शरीर की रचना में प्रन्थियों के लाव यड़ा आवश्यक भाग लेते हैं। मुख में लाला-प्रन्थियों (सेतीवरी ग्लेंड्म) होती हैं जिन से लार निकलती है। इन्हीं से मुख आई रहता है। यदि ये लवित न हों तो जीना मुश्किल हो नाय। आमाशय की अपनी प्रन्थियाँ होती हैं जिन से आमाशय-रस (गिस्ट्रिक जूस) निकलता है। यछत् (लिवर), अग्न्याशय (पेन्क्रियास) और अगड (टैस्टिकल्स) भी लावक-प्रन्थियाँ हैं। इन के लावों में से छुछ पाचक, छुछ चिकनाई देने वाले, छुछ बाहर निकल जाने वाले, छुछ उत्पादक तथा छुछ शरीर की रचना में भाग लेने वाले हैं।

पहले शरीर-क्रिया-विज्ञान वैत्ता केवल उन अन्थियों से परिचित थे जो अपने मान को प्रणालियों द्वारा शरीर की पृष्ठ पर निकाल देते हैं— वह पृष्ठ चाहे देखने को श्लेष्मकला (म्यूक्स मेम्त्रेन) की तरह अन्दर हो; चाहे त्वचा की तरह बाहर । उन्हें यह भी ज्ञान था कि इन स्नावों को शरीर के भीतर या वाहर एक स्थान से दूसरे स्थाम पर ले जाने के लिये स्नावक नालियाँ बनी हुई हैं । यक्तत् के स्नाव को अपने स्थान पर पहुँचाने के लिये अन्दर नालियाँ बनी हुई हैं ; पसीने, आँसुओं के लिये वाहर । मूत्र, स्वेद, आँसू आदि स्नाव बाहर निकाल फेंकने के लिये ही हैं और विहःस्नावक प्रणालियों द्वारा

बाहर फेंके जाते हैं । यदि इन्हें शरीर के भीतर रोका जाय तो हानि होती है । लाला, पित्त ब्रादि शरीर के ब्रान्टर काम ब्रांत हैं, ये फेंकने के लिये नहीं हैं ब्रोर ब्रान्त:स्नाकक प्रणालियों द्वारा जहाँ इन की ज़रूरत होती है वहाँ पहुँचा दिये जाते हैं ।

ज्यों-ज्यों शरीर-क्रिया-विज्ञान में उन्नति हुई त्यों-त्यों शरीर में अन्य भी कई नवीन रचनाओं का पता चला। पहले केवल 'प्रणाली-युक्त-प्रन्थियों' का ही पता या, अब शरीर में कुछ ऐसी भी य्रन्थियाँ मिलीं जो प्रणाली-युक्त तो न थीं परन्तु उन की ननावट त्रादि सन-कुछ प्रन्थियों के ही सदृश थी। उदाहरणार्थ, **यीवा में 'थाईरोयड' तथा कोष्ठ में 'एड्रीनल' य्रन्यियाँ थीं, जिन के** कार्य का अभी तक पता नहीं चला था। इन में प्रणालियाँ (डक्ट्स) नहीं होतीं। खोज के बाद पता चला कि इन की रचना श्रन्य यन्यियों जैसी ही होती है, यद्यपि ये 'प्रणालिका-रहित' होती हैं । डाक्टर डोनिस बरमन अपनी पुस्तक 'दी ग्लैन्ड्स रेग्युलेटिंग. पर्सनैलिटी' में लिखते हैं:—''थाईरोयड और एड्रिनल को यन्थियों की श्रोणी में अब तक इसिलये नहीं गिना गया क्योंकि इन में अपने स्नाव के परित्याग के लिये कोई दृश्य-मार्ग नहीं है। यही कारण है कि अब इन की पृथक् श्रेणी बनाई गई है और इन. ग्रन्थियों को 'प्रणालिका-रहित' (डक्टलेस) नाम दिया गया है।"

प्रणालिका-रहित ग्रन्थियों का पता लगना एक नूतन खोज थी। खोज का स्वरूप यह था कि जहाँ हुमारे शरीर में 'प्रणाली-सहित' ग्रन्थियाँ हैं वहाँ 'प्रणाली-रहित' ग्रन्थियाँ भी हैं। प्रणाली-सहित यन्थियों के स्नाव प्रणालियों द्वारा किसी पृष्ठ पर पहुँचते हैं, अतः उन स्नावों को बहिःस्नाव (एक्सटरनल सिकीशन) कहते हैं; प्रणाली-रहित यन्थियों के स्नाव प्रणालियों के विना अन्दर-ही-अन्दर खपते रहते हैं, अतः उन्हें अन्तःस्नाव (इन्टरनल सिकीशन) कहते हैं। शरीर-क्रिया-विज्ञान वेत्ताओं का कथन है कि कुछ यन्थियों ऐसी हैं जो केवल अन्तःस्नाव की रचना करती हैं, जैसे, याईरोयड और एड्रोनल; कुछ ऐसी हैं जो केवल बहिःस्नाव का निर्माण करती हैं, जैसे, लाला और आमाशय-यन्थि; और कुछ ऐसी भी हैं जो अन्तः तथा बहिः दोनों स्नावों को बनाती हैं, जैसे, यक्नत्, अगन्याशय और अगडकोश।

किशोरावस्था में शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन होने का कारण अगड कोशों का ही अन्तः तथा विहः स्नाव है। तभी जिन ज्यक्तियों के अगडकोश निकाल दिये जाते हैं उन में पुरुपत्व नहीं आता। एक ही आयु तथा एक ही वँश के दो वछड़े लेकर उन में से एक के अगडकोश काट दिये जायँ और दूसरे के प्राकृतिक तौर पर बढ़ने दिये जायँ तो साल-भर में दोनों में बड़ा भारी भेद स्पष्ट दीख पड़ेगा। जिस का अगडज्छेद नहीं किया गया उस प्राणी का शरीर पूर्ण-रूप से विकसित, शक्तिशाली तथा अतीम उत्साह से भरा हुआ होगा; परन्तु उस के साथी की गर्दन और सींग छाटे-छाटे, माथ पर ज़रा-से बाल तथा भोली शक्त पर कमजोरी के निशान दिखाई देंगे। यही अवस्था घोड़े में भी होगी। एक घोड़ा जिस का अगडज्छेद नहीं हुआ, प्राकृतिक तौर पर खूब नदता है। उस की मोटी-मोटी लचकीली गर्दन, उस पर लहराने वाले वाल, परिप्रष्ट शरीर, लम्बा कद और मचलती चाल को देख कर राजाओं के भी दिल ललचान लगते हैं। उस की फ़र्तीली चाल, बाँका नृत्य और रेाबदार नज़र किसे नहीं लुभा लेतीं। दूसरी तरफ़ घोवी का ट्ट्रू भी तो है जो शहरों की गिलियों में दुलितयाँ भाड़ता फिरता है। दोनों ही विल्कुल भिन्न-भिन्न मार्गों पर चलते हुए उन्नत या अवनत हुए हैं। एक घोड़े के बलवान होने का मुख्य कारण उत्पादक-अन्थियों का न होना है।

मुसल्मान वादशाह स्त्रियों के रहने के मकानों में नपुँसकों को रखा करते थे और जन कभी उन की आवश्यकता वह जाती थी तो छोटे वच्चों के अग्रडकोश काट कर उन्हें इस काम के योग्य बना दिया जाता था। डाक्टर फुट लिखते हैं कि "इटली में अठारहवीं शताब्दी में लगभग चार हज़ार लड़कों के अग्रडकोश प्रतिवर्ष काटे जाते थे तािक वे गाने-वजाने का काम सफलता-पूर्वक कर के जनता को खुश कर सकें। इन लड़कों का पुरुपत्व मारा जाता था; उन की पुरुषों की-सी तीखी आवाज नहीं रहती थी और औरतों जैसा गा सकते थे।"

अगडकोशों के अन्तःस्नाव से ही पुरुप में पुरुपत्व तथा वीजकोशों के स्नाव से ही स्त्री में स्त्रीत्व आता है। यदि पुरुप के अगडकोश निकाल दिये जायँ तो उस में स्त्री के गुग् आ जाते हैं; स्त्री के वीजकोश निकाल दिये जायँ तो उस में पुरुप

के गुण भा नाते हैं। स्त्री तया पुरुष दोनों का सम-विकास इन ग्रन्थियों के कारण ही होता है। ये ग्रन्थियाँ जितनी पुष्ट या जीण होंगी उतना ही न्यक्ति भी पृष्ट या ज्ञीण होगा । कई वैद्यों की सन्मति में तो वृद्धावस्था का कारण ही इन प्रन्थियों का चीण हो जाना है। ध्रमेरिका में ऐसे परीज्ञण किये जा रहे हैं जिन में इन ब्रन्थियों को एक व्यक्ति के शरीर में से निकाल कर दूसरे के शरीर में नोड़ देने से उस भी सारी प्रक्रिया ही बदल नाती है। पुरुपों की ग्रन्थियाँ निकाल ढालने से उन का पुरुपत्व रुक नाता हो इतना ही नहीं, परन्तु मिन का पुरुपत्व खो जाता है उन के शरीर में इन ग्रन्थियों का रस डालन से खोया हुआ प्ररुपत्व लोट माता है। यदि यह बात सत्य है तो प्राचीन श्रायों का यह विचार कि ब्रह्मचर्य से मृत्यु को जीता जा सक्कता है, टीक है। ब्रह्मचर्य का श्राभिप्राय, शरीर-क़िया-विज्ञान की दृष्टि से, इन जनन-प्रन्यियों को स्वस्य रखना ही तो है । ब्रह्मचारी को जनन-प्रिथयों के साव का संयम करना चाहिये क्योंकि इस से श्रायु तया स्वास्थ्य दोनों का लाभ होता है श्रीर कुनेप्टाश्रों से उत्पादक-प्रन्थियाँ चीए हो नाती हैं।

जेसा पहले बताया जा चुका है, श्रगडकोशों का स्नाव भीतर तथा बाहर दोनों श्रोर होता है। श्रन्तः स्नाव बचपन से ही शुरु हो जाता है। यह श्रन्तः स्नाव शारीर में खप कर उसे हृष्ट-पुष्ट बनाता है। बहि: स्नाव 'शुक्रू-कर्ण' के परिपक्त हो जाने पर बड़ी उम्र में होता है श्रीर यही जनन में सहायक है।

अन्तःस्नाव 'लिंम्फ़' तथा 'रुघिर' द्वारा शरीर में खपता रहता है। इन्हीं के द्वारा यह मस्तिष्क तया मेरु-द्रांड में जाकर सम्पूर्ण शरीर को एक अपूर्व शक्ति प्रदान करता है । इसी अन्त:-स्नाव के कारण घोड़ा, बेल और पहलवान् एक दूसरे से बढ़-बढ़ कर राक्ति दिखलाते हैं। यदि अन्तःस्नाव निरन्तर होता रहे श्रीर शरीर में खपता रहे तो शरीर के श्रंगों का सम-विकास होता है ; भद्दा चेहरा भी सुन्दर दिखाई देता है । जिस में ये यन्यियाँ नहीं होतीं अथवा चीए होती हैं उस की शारीरिक वृद्धि रुक जाती है। उत्पादक-श्रंगों का दुरुपयोग करने से श्रन्तःस्राव में वाधा पड़ती है। परिणाम-न्वरूप शारीरिक, मानसिक तथा ग्रात्मिक शक्ति रुक जाती है। काम-भाव से उत्पादक-ग्रन्थियाँ वहिःस्राव उत्पन्न करने लगती हैं, और यह वहिःस्राव अन्तः-साव की उत्पत्ति को रोक देता है। श्रन्तःसाव ही शरीर का भोजन है ; स्वयँ शरीर में खपता रहता है ; वह रुका तो शरीर की उन्नति भी रुकी । श्रन्तःसाव की ही चमक सन्तों, महा-त्मात्रों के चेहरों पर दीला करती है। यह सारे शरीर में नव-जीवन का संचार किये रखता है, पुरुषत्व को वनाये रखता है। अायुर्वेदिक परिभाषा में इस अन्तः साव को ही 'ओज' कहते हैं ; वहिःसाव के लिये 'वीज', 'शुक्र' तया 'रेतस्' शब्द हैं। विहः साव नहीं होगा तो वही तत्व अन्तः साव के रूप में शरीर को तेजस्वी तथा श्रोजयुक्त वना देगा ; वहिः साव होने लगेगा तो मनुष्य तेजहीन हो जायगा।

जेसा श्रभी लिख़ा गया, श्रन्तः सूत्र तो जन्म के साथ शुरु हो जाता है परन्तु विहः सूत्र तभी होता है जब शुक्त-करण (स्पेमें-टोज़ेश्वा) परिपक हो जायाँ। हाँ, युवावस्था श्राने पर, २४ वर्ष की श्रवस्था के बाद, विहः सूत्र भी धीरे-धीरे निरन्तर होने लगता है श्रोर वीर्य श्रत्यन्त थोड़ी-थोड़ी मात्रा में वीर्यकोश में संवित होने लगता है। विहः सूत्र वीर्यकोश में जाकर या तो वहाँ से शरीर में रचता रहता है, श्रन्थया वीर्यकोश के भर जाने पर निक्तनं की कोशिश करता है। इस का निकास तीन प्रकार से होता है:—

- १. या तो यह श्रपनी इच्छा से निकाला जाता है। वीर्य-कोश के भर जाने पर प्ररूप कुनेष्टाश्रों द्वारा वीर्यनाश कर डालता है। इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि इच्छापूर्वक वीर्य-स्वलन केवल गृहस्थी को उचित समय में करने से पाप नहीं होता, श्रन्यया दूसरे किसी भी उपाय से वीर्य नैसे बहुमूल्य पदार्य के नाश से श्रात्म-हत्या से कम पाप नहीं लगता।
- २. या यह खयँ निकल जाता है। वीयकीश की स्थिति ऐसी है कि इस के एक तरफ गुढ़ा श्रोर दूसरी तरफ मूत्राशय है। दोनों के भर जान से शुक्राशय पर इतना जोर पड़ सकता है कि वीर्य स्वलित हो जाय। जिसे ऐसी शिकायत हो उसे जहाँ पेट साफ़ रखना चाहिये, दस्त के समय जोर नहीं लगाना चाहिये, दहाँ योग्य चिकित्सक की सलाह भी श्रवश्य लेनी चाहिये क्योंकि वीर्य का इस प्रकार स्वयँ स्वलित हो जाना रोग का सूचक है।

र. या जब शुकाशय भरा हो तब सोते समय मन में कोई गन्दा रूप्त आने से वीर्यपात हो जाता है। इसे स्वप्तदोप कहते हैं। कभी-कभी शुकाशय भरा न भी हो तो भी उपन्यासादि से दिन के समय सिञ्चत किये हुए गन्दे-गन्दे विचार रात्रि को सोते-सोते सपने में इतनी कामुकता उत्पन्न कर देते हैं कि स्वप्तदोप हो जाता है। अतः स्वप्तदोप के दो कारण हैं। शुकाशय का भरा होना या बुरे स्वप्त । बुरे स्वप्तों से वीर्य-नाश हो जाने को तो एक रोग समम्म कर उस की चिकित्सा करनी चाहिये। प्रश्न यह रह जाता है कि यदि शुकाशय के भर जाने से वीर्यनाश, सोते या जागते, हो जाय अथवा किया जाय, तो वह कहाँ तक अनुचित है?

जिस किसी ने भी इस विषय पर विचार किया है, चाहे वह बीसवीं सदी का वैज्ञानिक हो चाहे पहली सदी का कोरा पिएडत, उसी का कथन होगा कि किसी तरह से भी वीर्यनाश अग्रुचित है, अत्यन्त अगुचित । उत्पादक-प्रन्थियों का अन्तःस्मव (ओज) तो असंदिग्ध तौर पर शरीर में स्वयं ही खपता रहता है; बहि:-स्माव (बीज, शुक्र) भी अभ्यास से खप सकता है और खपता है। आखिर, बहि:स्माव तो अन्तःस्माव का ही काम-भाव से बाहर निकल आना है; फिर यदि अन्तःस्माव शरीर में खपता है तो बहि:स्माव क्यों नहीं खप सकता ? बहि:स्माव के शरीर में खप जाने के परिशाम चमत्कारी होते हैं। इस में सन्देह नहीं कि बहि:स्माव स्वयं नहीं खपेगा, शुक्राशय के भरने पर यह निकलने की कोशिश करेगा, और इसीलिये ऐसे व्यक्तियों के लिये

ऋ पियों ने विवाह की श्रायु २५ वर्ष रखी है। स्वाभाविक जीवन व्यतीत करते हुए २५ वर्ष में ही वीर्वकोश भरना चाहिये। परन्तु २५ वर्ष निकृष्ट-त्रस्वर्य कहा गया है। यह त्रादर्श नहीं है। प्राचीन काल के योगी लोग ऐसे-ऐसे अभ्यास जानते थे जिन के हारा वहिःमाव शरीर के रक्त में पुनः संवरित होकर जीवन में न्तन शक्ति को भर देता था। ऐसे महात्मात्रों को 'ऊर्व्व-रेता' या 'श्रादित्य-क्रसचारी' कहा जाता या । ये ४८ वर्ष तक श्रल-िंदत ब्रह्मचर्च्य का पालन करते थे। प्राचीन भारत में अप्लुत व्यानर्थ्य का पालन करते हुए किसी ब्राध्यात्मिक गुरु की सँस्था में शिज्ञा प्राप्त करना श्रावश्यक सम्भा जाता था। श्रतीत काल के उस गुहामय गर्भ में मानव-समाज के गुरु श्रपने शिष्यों का ष्याचार बनाना शिद्धा का मुख्य उद्देश्य समभतं थे। उन का लच्य ऊँचा या। श्रख़एड-शक्ति के भएडार परमात्मा की खोन में व नीवन विता देते थे। उसी के ध्यान में- 'मरणे विनदु पातन जीवनं विन्दु धारणात् - के तत्व का श्रवगाहन कर वे वीर्य जैसी जीदिनी-शक्ति का संग्रह करते थे। युवकों को स्मरण् रखना चाहिये कि, सोते या नागते हुए, स्वयँ हुआ-हुआ या किया हुआ, किसी प्रकार का भी, वीर्यनाश जीवन के लिये यातक है।

यदि नव-युवक उत्नादक-श्रंगों के श्रन्तःस्नाव को शरीर में खपा लेने के महत्व को समभंत तो शतान के प्रलोभनों में फंसने से पहले वे कई वार सोचें श्रीर गिरने से क्वें। किशोरावस्था शरीर के विकास का समय है। इसी समय तो शरीर की सम्मित्त वढ़ती है। उस मनुज्य को घिकार है जो थोड़े से शारीरिक घन की गर्मी में अपने-आप को मुला कर फ़िजूलख़र्जी में पढ़ जाता है। वे सब बुराइयाँ जो कामुकता उत्पन्न कर के अन्तःस्नाव में वाधा डालतीं और बिहःस्नाव उत्पन्न करती हैं आज हमारे युक्क-समाज में तबाही मचा रही हैं। भोग-विलास की युक्क-मएडली में कमी नहीं है। ऐसी अवस्था में अन्तःस्नाव मानो सूका जा रहा है। बिहःस्नाव का निकास उत्पादक-अंगों को थकाये विना नहीं मानता और, प्राचीन अप्रियों तथा वर्तमान शरीर-क्रिया-विज्ञान वेत्ताओं का कथन है कि, जहाँ उत्पादक-अंग थके वहाँ अन्तःस्नाव का निकास और अन्दर-ही-अन्दर खपना भी बन्द हुआ।

प्रत्येक युवक को चाहिये कि अपने अन्दर अन्तः सूव (अोज) और वहिःसूव (वीर्य) दोनों को धारण करे और 'किशोरावस्था', 'यौवन' तथा 'पुरुपत्व' को क्रमिक विकास में प्रस्फुटित होने दे।

पष्ट आध्याय

'इ न्द्रिय - निग्रहः

१. स्वाभाविक जीवन

उन में ब्रह्मचर्य्य का अवस्थाओं में हम जीवन व्यतीत करते हैं उन में ब्रह्मचर्य्य का अविश्वित रहना प्रायः असम्भव-सा हो गया है, परन्तु फिर भी शारीर-शास्त्र की दृष्टि से 'ब्रह्मचर्य' का अर्य समम्मने के लिये, यह जान लेना आवश्यक है कि स्वामाविक अवस्थाओं में रहते हुए ब्रह्मचर्य का अभिप्राय क्या होगा ? उस समय शरीर की आभ्यन्तरिक-क्रिया किस प्रकार चल रही होगी ?

जेसा पहले कहा जा चुका है, अग्रहकोशों का अन्तःस्राव जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक निरन्तर होता रहता है। यह स्राव स्वयं-हो शरीर में खपता रहता है और मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति में सहायक होता है। अन्दर-ही-अन्दर उत्पन्न होने तथा खप जाने वाले इसी रस को 'ओज' कहते हैं। यह पट्ठों को मज़बूत करता, स्नायुओं में शक्ति भरता तथा शरीर को तेजोमय बनाता है।

परन्तु वहिःसाव में तो अगडकोशों से ही टूटे हुए छोटे-छोटे जीवित कोष्ठक वाहर निकलते हैं। इन जीवित कोष्ठकों कोः

अंग्रेज़ीं में 'स्नमेंटोज़ोत्रा' या शुक-कण कहते हैं। मनुष्य का शरीर जन परिपक हो जाता है तभी यह वहिः स्नाव होता है। यह जीउन में निरन्तर नहीं होता रहता। स्वामाविक जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य के शरीर में यह किया २४ वर्ष की श्रास्या में प्रारम्भ होती है श्रीर ५० वर्ष तक होती रहती है। जैसा श्रभी कहा गया, शुक्र-कण एक जीवित-कोष्ठक है, श्रतः अन्तः स्राव की भाँति वहिः स्राव शरीर में स्वयं जड़न नहीं हो सकता । हाँ, योग की शक्तियों तया विधियों द्वारा इसे मी शरीर में खपाया जा सकता है। प्राचीन भारत के आश्रमों में, जिन का नाम गुरुकुल होता था, यह विद्या सिलाई जाती थी श्रीर जो संयमी पुरुप इस विद्या में दीचित होते थे उन्हें ऊर्ध-रेतम् या अ।दित्य-ब्रह्मचारी कहा जाता था, उन का वीर्य श्राजीवन श्रखिरडत रहता था। परन्तु यंह श्रादित्य-ब्रह्मचारी का जीवन सर्व-साधारण के लिये न था । जो लोग 'ऊर्ज्व-रेतस' के रहस्यों में दीचित नहीं हो सकते उन के लिये वहिःसाव के स्वाभाविक रूप से प्रकट होने का समय ही विवाह का समय रखा गया है। भारतीय शारीर-शास्त्रियों के मत में इस देश के जल-वायु में पचीस वर्ष की अवस्या में, शुक्र-कण के रूप में, बहि:-स्राव उत्पन्न होने लगता है त्रतः उन्हों ने विवाह की त्रायु भी पचीस वर्ष ही वतलायी है । स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति को बचपन, कुमारावस्या तथा युवावस्या कभी अशान्त नहीं होने देतीं, उस के सन्मुख इन्द्रिय-नियह का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होने पाता । पश्चीस वर्ष की श्रवस्था में श्रग्डकोशों के जीवित कोष्ठक (शुक्र-कण्) टूट-टूट कर शुक्र-वाहिनी प्रणालिका में से होने हुए शुक्राशय में प्रविष्ट होते हैं श्रोर श्रपनी स्वाभाविक गित से प्रक्षा में उत्तेजना उत्पन्न करते हैं । यदि इस श्रदस्या में प्रक्ष्य का स्त्री-सन्वत्य हो, श्रोर संयम-पूर्वक रहा जाय, तो विहास मान का निकलना हानि-जनक नहीं होगा श्रोर ना ही इस से शारीरिक श्रयवा मानसिक उन्नित में कोई बाबा होगी । इस श्रवस्या में विवाह हो जाने से श्रन्तः मूल के कार्य में कोई रुका-वट नहीं होगी श्रोर स्त्री-पुरुष दोनों को हानि के स्थान में प्रायः लाभ ही पहुँचेगा ।

परन्तु शायद अस्वाभाविक-जीवन के इस युग में हमें स्वाभाविकता पर विचार करने का भी अधिकार नहीं । प्रकृति माता
के सौम्य मुख पर हम ने अपने घृणित कार्यों से कलंक का टीका
लगा रख़ा है । इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि
हमाग अप्राकृतिक-जीवन आजकल के बचों को उम्र से पहले
ही पका देता है और इसीलिये छोटी ही आयु में उन में कृत्रिम
उपायों द्वारा विहःस्राव उत्पन्न होने लगता है । स्वाभाविक
जीवन की सोम्यता कहीं देखने को भी नहीं मिलती, वह आज
केवल काल्पनिक शारीर-शास्त्र का अयवा बहस का ही विपय रह
गई है । वर्तमान जीवन को समम्मने के लिये 'अस्वाभाविक
जीवन' का, अयवा 'अप्राकृतिक जीवन' का, अध्ययन करने
की आवश्यकता है ।

२. ग्रस्वाभाविक जीवन

इस समय मानव-समाज के स्त्री-पुरुष अप्राकृतिक-जीवन व्यतीत कर रहे हैं अतः सर्वत्र ही इन्द्रिय-नियह का अत्यन्त अभाव दिखाई देता है। संयम नाम मात्र को भी नहीं रहा। इन्द्रिय-संयम को मुख्यतः दो कमों में तोड़ा जा रहा है: जान-चूम कर और विना जाने-चूमे !

(१) जान-बूभा कर संयम-हीन-जीवन व्यतीत करने का श्रभिप्राय क्या है ? यही कि शरीर तथा मन को, श्रांकों के खुली हुई होते हुए, विषय-वासना की कलुषित वेदी पर विल चढ़ा दिया जाय और इस घोर पाप की जिम्मेवारी भी अपने ही कंघों पर हो ! माना कि इस पाप में हम ने खुछमखुछा अपनी सहमति न दी हो, माना कि किसी-किसी समय हम ने इस गढ़े में गिरने से घचने की भी चेष्टा की हो, परन्तु फिर भी प्रलोभन आने पर हम सम्हल न सर्के ; यद्यपि उस समय हमारी आँखें खुली हेां, हम जाग रहे हों, परन्तु फिर भी देखते-ही-देखते गढ़े में गिर पड़ें ! कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाप के प्रति घृणा तथा अनिच्छा हमारी रगों में कूट-कूट कर भरी होती है, हम समकते हैं कि हमारी गिरावट में हम कारण नहीं, परन्तु योड़ा-सा अनुसन्धान करने पर पता लग जाता है कि हमारी ही चेतना के एक कोने में हमारी ही 'इच्छा' का एक लचकीला तन्तु, जो समय पड़ने पर विशाल-रूप धारण कर लेता है, छिपा या, श्रीर उसी ने हमें

टीक मोके पर घोखा दिया। पहले एक साधारण-सी 'प्रवृत्ति' टत्पल हुई—फिर छोटी-सी 'इच्छा' वनी ; यह इच्छा श्रनेक वार हुई श्रोर 'श्रादत' या 'श्राचार' वन गई ; फिर वही पकती-पकती 'प्रकृति' या 'स्वभाव' हो गई—यही उपक्रम श्रविरत रूप से चलता है श्रोर इस में 'जागरूक-इच्छा' की एक श्रविकल शृंखला दृष्टि-गोचर होती है। श्रविच्छा में कहीं इच्छा का बीज छिपा हुश्रा रहता है जो कभी श्रवुकुल परिस्थित पा कर प्रादुर्भूत हो जाता है। ऐसी श्रवस्या में जब मनुष्य सहसा श्रपने श्रात्मा को किसी गिरावट के गड़े में गिरा हुश्रा पाता है तो सहसा उस के मुख से निकल पड़ता है:—

'जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्म न च मे निवृत्तिः।'

दुर्भाग्यवरा, यह श्रवस्था जो श्रत्यन्त भयानक है, श्रत्यन्त फेली हुई भी दीख पड़ती है। हम श्रपने हाथों से ही श्रपनी इमारत की श्राधार-शिला को हिला देते हैं, अपने-श्राप श्रात्मिक श्रथः पतन के गड़े में कूद पड़ते हैं, जानते-बूक्तते मृत्यु तथा सर्वनाश के मुख की तरफ कदम बढ़ाते जाते हैं। इस मूखता की भी कोई सीमा है कि हम श्रपनी हत्या श्रपने-श्राप ही करते हैं! सर्वनाश, श्रीर वह भी जान-बूक्त कर! मृत्यु, श्रीर वह भी श्रपने ही हाथों!! क्या परमात्मा के राज्य में इस से बड़ा पाप भी सेंग्ना जा सकता है शान-बूक्त कर दुराचार का जीवन व्यतीत करना ही व्यभिचार कहाता है। यह व्यभिचार, यह संयम-हीनता, कई तरह की है । मुख्यतः, इस के तीन भेद हैं: श्रात्म-व्यभिचार (हस्तमैथुनादि); पत्नी-व्यभिचार तथा वेश्या-व्यभिचार ।

(२) यह तो हुई जान-वृक्त कर संयम-हीनता ! विना जाने-वृक्ते भी संयम टूट जाता है श्रीर यह प्रायः जागते नहीं परन्तु सोते समय होता है । इसीलिये इसे 'स्वप्नदोप' कहते हैं ।

श्रस्ताभाविक जीवन के दो भाग किये गये हैं: जान-वूम कर संयम तोड़ना तथा विना जाने-हुए टूट जाना। जान-वूम कर संयम-हीनता को हम ने तीन भागों में विभक्त किया है: श्रात्म-व्यभिचार; पत्नी-व्यभिचार तथा वेश्या-व्यभिचार। विना जाने हुए संयम टूट जाने को स्वप्नदोष कहते हैं। श्रगले चार श्रध्यायों में हम इन्हीं चारों का कमशः विवेचन करेंगे तथा इन के कारणों, परिणामों श्रीर उपनारों पर विचार करेंगे।

स्रक्ष च्रिष्ठाश 'इ न्द्रिय - निग्रहः'

[क. श्रात्म-व्यक्तिचारं]

न श्रस्वाभाविक परिस्थितियों में लड़के-लड़की श्रानंकल रखे जाते हैं उन का श्रवश्यम्भावी परिणाम उन के शरीर तथा मन पर हुए विना नहीं रहता । बोटी-ही उम्र में उन का नीवन श्रशान्त होने लगता है। व हृदय में उठते मानसिक-विकारी का श्रभिप्राय समभा नहीं पाते। जो लहरें उठती हैं उन्हें रोकने के लिये उन की संकल्पं-शक्ति श्रभी श्रत्यन्त निर्वलं होती है। उन के जीवन में ऐसे ज्ञाण बहुया उपस्थित हो जाते हैं, जब काम-बासना से वे श्रन्धे हो जाते हैं, बुद्धि ठिकाने नहीं रहती । ऐसे अवसरों पर मनुष्य की अन्तरात्मा में छिपा हुआ शेतान उस के देवीय-भाव पर मोह का पर्दा डाल देंता है श्रीर वह घृणित-से-घृणित पाप करने के लिये भी तय्यार हो जाता है। ऐसे स्मृति-भ्रंश श्रीर बुद्धिनाश के समय ही मनुप्य हस्त-मेशुन आदि पेशाचिक कृत्यों में प्रवृत्त होकर अपनी श्रात्मा का हनन कर बैठता है। एक ज्ञण के श्रानन्द के लिये वह आजनम अपने सिर पर पाप की गठरी लांद लेता है। मनुष्य की जननिद्रय कितनी पवित्र है ! यह सृष्टिकर्त्ती की उत्पादन-राक्ति

की प्रतिनिधि है ! गन्दे वातावरण में रह कर मनुष्य इसी उच-शक्ति का अपमान कर बेठता है। कृत्रिम साधनों से—हस्त-स्पर्श से, उल्टा लेट कर अथवा किसी दूसरी प्रकार द्वाव डाल कर— जननेन्द्रिय को उत्तेजित कर देता है और शक्ति के असीम-भगडार वीर्य को खो बेठता है। यह महापातक है, अपनी आत्मा का छिप कर घात करना है, आत्म-व्यभिचार है!

यह पाप ऐसा है नो मनुष्य छिप कर करता है और अकेला करता है, इसीलिये अन्य घृणित पापों की अपेज़ा यह सब से ज़्यादह फैला हुआ है। जो इस पाप के वेग के सन्मुख एक वार भी सुक गया वही इस का वे-दामों का गुलाम वन गया। एक वार इस शत्रु के सन्मुख हारना सदा की हार को नियन्त्रण देना है। प्रतिदिन संकल्प-शक्ति कमज़ीर होती जाती है, प्रतिरोध करने की हिम्मत ही नहीं रहती। अन्त में यह आदत मनुष्य को इस प्रकार जकड़ लेती है कि इस के शिक के से अपने को छुड़ाना उसके लिये असम्भव हो जाता है। नवयुवकों में यह पाप महामारी की तरह फैलता है। इस विषय के जानकारों की इस विषय में वडी-वड़ी भयोत्पादक सम्मितियाँ हैं। कईयों का कयन है कि इसका ज़हर विश्वव्यापी है। अनेक चिकित्सकों की सम्मति है कि अपने ज़ीवन-काल में प्रत्येक व्यक्ति इस रक्त-शोषिणी लत का किसी-न-किसी समय शिकार रह चुका है। प्रहमों तया स्त्रियों, लड़के तथा लड़कियों, युना तया वृद्धों—सन की डायरियों में ऐसी पदनात्रों की कमी नहीं जिन्हें याद कर-कर वे जीवन-भर पछताते

रहते हैं। यह आदत मनुष्य को शोक्ति-होने त्या जन्म की दुः खिया नना कर खाट पर पटक देती है। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जिन के विपय में सन्देह भी नहीं हो सकता कि वे इस पाप-पंक में इन'रहे होंगे—परन्तु जिन के वास्तिवक जीवन की एक माँकी ही देखने वाले को कंपा देती है! कईयों को हस्त-मेथुन की बीमारी हो जाती है, ठीक उसी तरह की बीमारी, जेसी और बीमारियाँ होती हैं। लाख कोशिश करते हैं, परन्तु इस से छूट नहीं सकते। मौके आते हैं जब इस आवेग के सन्मुख घास की तरह वे कुक जाते हैं और आवंग के निकल जाने पर शर्म के मारे उनमें मुख उठा कर ऊपर देखने तक की हिम्मत नहीं रहती!

डाक्टर केलोग महोदय एक डाक्टर की राय लिखते हैं:—
'मेरी सम्मित में मानव-समाज को हेग, युद्ध, चेन्क तया इसी
तरह की अन्य बीमारियों से इतना नुक्सान नहीं पहुँचा जितना
हस्त-मेशुन तया इसी प्रकार के अन्य घृणित महा-पातकों से !
सभ्य-समाज के जीवन को नष्ट करने वाला यह एक घुन है जो
अपना बातक कार्य लगातार करता रहता है और धीरे-धीरे जाति
के स्वास्त्र्य को समूल नष्ट कर देता है।" एक दूसरे लेखक की
सम्मित है:—'हमें इस बात का ज़रा भी ख़्याल नहीं कि हमारे
लड़के-लड़िक्यों में आत्मा को गिराने वाला यह महा-भयंकर रोग
कहाँ तक घर कर चुका है। हम भूल से समक्ते हैं कि वे इस
रोग से वरी हैं परन्तु आँखें लोल कर देखने के पिता चिता है।" भ

"किशोरावत्या को पार कर युवावत्या में पग वरते हुए युवकों में अनेक निर्वलताएँ दीख पड़ती हैं। माता-पिता कहने लगते हैं कि ये युवावत्या के अवश्यम्भावी परिणाम हैं, परन्तु वास्तव में इन कमज़ोरियों का कारण भी प्रायः लड़कों का बुरी आदर्तों में पड़ जाना ही होता है।"

का र ण

यहाँ इस वात पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा कि नवयुवकों की हस्त-मेथुनादि घृणित कार्यों की तरफ प्रवृत्ति क्यों कर हो जाती है ? मुख्यतः इस वासना के जागने के दो कारण हैं: भौतिक तया मानसिक । यह कह सकना कि प्रमुक उत्तेनना का कार्ण भौतिक है और अमुक का मानसिक, अत्यन्त कठिन है; प्रायः प्रत्येक कामोत्तेजना में भौतिक तथा मानसिक दोनों कारण मिले-जुले रहते हैं ; भौतिक मानसिक के लिये और मानसिक भौतिक उत्तेजना के लिये भी कारण हो जाती है ; परन्तु फिर भी जिस विषय पर हम विचार कर रहे हैं उसे भली-भाँति सममाने के . लिये भौतिक तथा मानसिक—इन दो भेदों का करना आवश्यक है। कामोत्तेनना के भौतिक कारणों से हमारा अभिप्राय उन कारणों से होगा जिन में काम-वासना की उत्पत्ति में मुख्यतः शरीर तया अन्य भौतिक वस्तुएँ कारण हों ; मानसिक कारणों से मतलब उन से होगा जिन में प्रधानता मन की हो। एक अवान्या में उत्तेजना का कारण शरीर त्या वाह्य साधन है;

टूसरी अवस्था में वहीं कार्य मन द्वारा होता है—परिणाम दोनों अवस्थाओं में एक ही—उत्तेजना—रहता है।

भौतिक कारण

जन पुरुप का रारीर परिपक्त हो जाता है, अर्थात् जिस समय स्त्राभाविक तौर पर षिक्षः स्राव उत्पन्न होकर प्रकृप में काम-वासना को जागृत कर देता है, उस समय उत्तेजना उत्पन्न होने लगती है। यदि स्वाभाविक जीवन न्यतीत किया जाय तो पचीस वर्ष के बाद ही यह अवस्या आती है। यह ग्ररीर की स्वाभाविक क्रिया है। इस समय विवाह हो जाना चाहिये। यदि इस समय विवाह न हो, और लड़के-लड़िक्यों की संकल्प-शक्ति भी हढ़ न हो, तो वे इस उत्तेजना को शान्त करने के लिये अस्वाभाविक उपायों का श्रवलम्बन करने लगते हैं। रारीर की इस परिपक्ता-तस्या में उन लोगों का विवाह न करना जिन की संकल्प-शक्ति दृद् नहीं थ्रोर रुचि भी भ्राध्यात्मिक नहीं, भयंकर है। ऐसे लोग खुद-ब-खुद हस्त-मेथुन का श्राविष्कार कर लेते हैं, वे श्रात्म-त्र्यभिचार के शिकार वन जाते हैं। इस वात को स्मरण रखना चाहिये कि विवाह कर के नियमित गृहांन्य-धर्म पालन करने से रारीर को वह ज्ञति नहीं पहुँचती जो हस्त-मैथुन की बुरी लंत से । पति-पत्नी के प्रेम-मय, भय-रहित आलिंगन में एक प्रकार की वेद्युतिक शक्ति उत्पन्न होती है जो दोनों के स्नायु-तन्तुओं की चति को पूर्ण कर देती है। हस्त-मैथुन के पैशाचिक कार्यड में मस्तिष्क के सर्वोत्तम रस का नारा—नाश और नाश ही होता है, इसिलये इन्द्रिय-निग्रह के इस शत्रु द्वारा मनुष्य पर जो विपदाएँ दूटती हैं वे कहीं कठोर और कहीं भयंकर होती हैं! इसिलये स्वाभाविक शारीरिक किया से, जिस का विस्तृत वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है, पके हुए व्यक्ति के लिये, उचित आयु में विवाह कर लेना ही धर्म-शास्त्र सम्मत है।

(१-) परन्तु स्वाभाविक तौर से परिपक्त होने वाले प्ररूपों तया उन्हें सताने वाले ख़तरों का क्या ज़िक ; यहां तो अस्वा-भाविक तौर से, उचित श्रवस्था से पहले ही, युवावस्था में ही ,पुरुष वन जाने वालों की कमी नहीं है ! अनेक भौतिक कारणों से उत्तेनना उत्पन्न हो नाती है। नैसा एक पिछले अध्याय में ्लिला जा चुका है, यदि गुह्य-श्रंगों की भली प्रकार सफ़ाई न की जाय तो उन में खुजली होने लगती है, बोटी-बोटी फुन्सियाँ हो जाती हैं श्रोरः स्वयमेव हाय उधर जाने लगता है। अनजान बालक को भी उत्तेजना का साधन मिल जाता है, वह हस्त-मैथुन के गुप्त-रहस्यों में स्वयँ-ही दीचित हो जाता है और इस आदत का शिकार हो कर यमराज की विकराल दँष्ट्रात्रों में पिसने के , लिये मानो उतावला होकर दौड़ने लगता है । कभी-कभी जनने-ंन्द्रिय के अगले हिस्से को ढकने वाली चमड़ी, जिसे मुगडाय-चर्म कहा जाता है, पीछे नहीं हट सकती जिस से शिश्न-मुगड पर जो मैल इकट्ठा होता है उसे पानी से साफ़ नहीं किया जा सकता। इस से भी खुजली उत्पन्न होती है और फिर हाय

उधर श्राकर्पित होता है। हाय केवल खुजली के लिये खिंचता है परन्तु परिणाम कितना भयंकर हो जाता है ! कैसा सर्वनाश हे ! परमात्मा ने पशुर्श्रों तथा मनुष्यों में यही तो भेद किया था। पशु को हाय नहीं दिये ; मनुष्य को दो हाथ दिये ताकि वह 'हायों के सद्भायोग द्वारा अपने को पशुत्रों से ऊपर उठा ले, परन्तु अफुसोस ! मनुष्य कितना कृतघ है, परमकारुणिक भगवान् की सत्र ऋपात्रों को ठुकरा कर वहं उन्हीं हायों से जिन से उसे ऊपर उठना चाहिये या श्रपने को पशुत्रों से भी नीचे गिरा रहा है। प्राचीन श्राश्रमों में शिज्ञा देने वाले ऋषि ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होते हुए वालक को उपदेश देते थे— हाथ से इन्द्रियस्पर्श मत करना ! इस उपदेश को सुन कर वर्तमान शिज्ञा में पले हुए गन्दे दिमार्गों के लोग मुँह फेर कर इँसने लगेंगे, परन्तु इस हँसी का जवाब, श्रीर दिल दहला देने वाला कड़वा जवाब, उन नवग्रवकों के चेहरों पर लिखा है जो निरन्तर उठने वाली दिल के फोड़े की दर्द को द्वाए असीम वेदना में कराह रहे हैं। उन से पृद्धो, हाय को पिनत्र रखने का क्या श्रिभप्राय है; श्रीर उन से पूछो, हाय को श्रपवित्र करने का क्या प्रायश्चित्त है.।

(२) इस के अतिरिक्त जननेन्द्रिय पर अचानक द्वाव पड़ने से भी कई लड़के-लड़िकयाँ हस्त-मैशुन की बुरी आदत सील जाते हैं। डा॰ एलवर्ट मौल लिखते हैं:—"घोड़े पर चढ़ना, सीने की मैशीन को पाओं से चलाना, वाईसिकल दौड़ाना तथा रेलगाड़ी की सवारी से भी उत्तेजना हो जाती है और यह उत्तेजना ही आगे

-चल कर् हस्त-मेथुन की तरफ़ मनुष्य को प्रवृत्त कर देती है।"तभी शायद प्राचीन काल में पिता ब्रह्मचारी को शिज्ञा देते हुए कहता . थाः—''गवाश्व हस्त्युष्ट्रादि यानं वर्जय''—जहाँ तक संभव हो, वैल, घोड़ा, हायी, ऊँट आदि की सवारी मत कर । एक वार इस .श्रादत का शिकार वन जाने पर लड़के वेशर्म हो जाते हैं श्रौर ख़राव होने के तरह-तरह के तरीके निकाल लेते हैं। एक लेखक का कथन है:-- "ने कुर्सी, मेन आदि के साथ अक कर खड़े हो जाते हैं, देखने वाले को मालूम पड़ता है कि साधारण तौर पर यूँ ही ्खड़े हैं परन्तु वास्तव में इस स्थिति से जननेन्द्रिय पर दवाव पड़ . रहा होता है । इस प्रकार व्हे श्रात्म-व्यभिचार के घृणित कार्य को इतना ही नहीं कि अपने साता-पिता के सामने परन्तु कई े आदमियों के वीच में करते देखे गये हैं।" यदि उन्हें समभाने ,वाला कोई हो, श्रीर उन्हें स्पष्ट राज्दों में समभा दे कि इस से उत्तेजना होग़ी श्रोर श्रात्मा का पतन होगा, तो श्रनेक नवगुवकों का जीवन वच जाय। यह भी देखा गया है कि कई बालक .पढ़ते-लिखते हुए पेट के बल लेट कर पढ़ते-लिखते हैं, परन्तु यह स्थिति भी जुननेन्द्रिय पर अञ्चित द्वाव डालती है। इन स्थितियों का प्रयोग दुनियाँ की आँखों में घूल भौकने के लिये किया जाता है । उस मन का पतन किस गहराई तक हो चुका होगा जो सन के देखते देखते अपनी आत्मा की इत्या करने पर उतार हो जाता है, और ऐन दिन के बारह बजे इस पाप को करता हुआ अपने चारों तरफ़ की दुनियाँ को वेवकूफ़ समम्तता

हैं! सटी हुई पतलून और पायजामा भी कभी-कभी उत्तेजना उत्पन्न कर देते हैं। डा॰ बोर्नहार्ड का कथन है:— "बालक जन लग्रशंका करना चाहता है तो उसे इन्द्रिय पतलून के बाहर निकालनी होती है। प्रारम्भ में वह इसे स्वयं नहीं कर सकता, दूसरे लोग उस के लिये यह काम कर देते हैं। कभी-कभी नौकर लोग यह करते हैं। वे वालुक को इन्द्रिय से खेलना सिखा देते हैं। वड़ी अवस्था में यही आदत विकृत रूप धारण कर लेती है।" इसे रोकने के लिये डाक्टर महाशय का कथन है कि प्रारम्भ में ६ से १४ वर्ष तक लड़कों को लड़कियों के-से खुले कपड़े पहनने चाहियें। शायद डाक्टर बोर्डहार्ड को भारत की घोती का पता न था, नहीं तो वे घोती का ही नाम ले देते।

(३) उत्तेजना के मुख्य कारणों में से भोजन एक है। डा॰ केलोग अपनी पुस्तक 'ध्रेन फैक्ट्स' में लिखते हैं:— "कई लोगी का क्यन है कि भोजन एक साधारण-सी वस्तु है। परन्तु यह अपलन्त अमात्मक विचार है। शारीर-क्रिया-विज्ञान की तो यह शिला है कि हमारे ख्यालात भी भोजन से ही बनते हैं। जो अपदमी अचार, मेंद्रे की रोटी, मिठाई खाता है, टी-काफी पीता है और तम्बाकू का इस्तेमाल करता है उस के लिये विचारों को पवित्र खसकना आस्मान में उड़ने की आशा के समान है। यदि वह पवित्र जीवन व्यतीत कर सके तो यह एक जमत्कार होगा, परन्तु मानसिक पवित्रता का रख सकना तो उस के लिये सक्या असंभव ही होगा।"

डा० कोवन अपनी पुस्तक 'सायन्स ऑफ ए न्यू लाइफ़' में लिखते हैं:— "काम-वासना को उत्पन्न करने के कारणों में से हूिषत-भोजन मुख्य है। यह कल्पना करना कि बच्चे को भोजन में अग्रडा, मांस, मिरच, मसाला, मिठाई, अचार, चाय, काफ़ी और कभी-कभी शराव भी दी जाय और वह कामुकता से बचा रहे, एक असम्भव कल्पना करना है। यदि ५ या १० वर्ष की आग्र वाले आस्मान के फ़रिश्ते को भी ये भाजन खाने को दिये जाय तो उस में भी आत्म-व्यभिचार की वासना उत्पन्न हो जायगी; मनुष्य के बालक का तो, जिस में हज़ारों पैत्रिक कुसंस्कार पहले ही बीज-रूप से मौजूद होते हैं, कहना ही क्या!"

(४) अनेक कोमल-वयस्क वालकों के वसन्तमय नवयोवन को नोकर हर ले जाते हैं। जब बचा रोता है तो दाइयाँ उस के गुह्य-अंगों पर धीमी-धीमी यपकी देती हैं तािक उस का ध्यान इस प्रकार उत्पन्न होने वाले आनन्द में बँट जाय। शायद उस समय उन्हें अपने इस मूर्खता-पूर्ण उपाय के भयंकर परिणाम का ख्याल नहीं होता। परन्तु कई नौकरों तथा नौकरािनयों को उन्हें सौंपे गये बच्चों के गुह्य-अंगों से खेलने में आनन्द आता है और वे ही अपनी वासना की तृिस के लिये कोमल-हृद्य बच्चे के मन को दूषित कर देते हैं। इस की जिम्मेवारी जहाँ नौकरों पर है वहाँ माता-पिता पर भी कम नहीं है। उन्हों ने अपना काम नौकरों के सुपूर्व कर अपने बच्चे के जीवन को तबाह कर दिया। प्यारे बालक ! सचमुच वह घड़ी तेरी बद-नसीबी की थी

जब तेरे माता-पिता ने तुभी अपने हाथों से किसी नौकर के सुपुर्द किया-उन मूर्ख माता-पिताओं को मालूम होना चाहिये था कि वे अपने ज्ञाने की चात्री नौकरों के हाय दे देते तो शायद इतना नुक्सान न होता जितना उन्हों ने एक जीवित श्रात्मा को नौकरों के हाय दे देने से कर दिया। परन्तु नौकरों को ही क्यों कोसा जाय ? कई माता-पिता तथा वचे के अन्य सम्बन्धी ख़यँ ऐसे आँख के अन्धे होते हैं कि बच्चे की जननेन्द्रिय के साथ खेलते हैं और खिड़-खिड़ दाँत निकालते हैं। इस में सन्देह नहीं कि उन के दिल में वचे को बुरी श्रादर्ते सिखाना नहीं होता, परन्तु वे इतने जाहिल होते हैं कि उन्हें अपनी वेवकूफ़ी का न्रा-भी ख्याल नहीं त्राता । दुर्भाग्यवश, इन कुचेष्टात्रों की शिचा वचों को जन्मते-ही मिलनी प्रारम्भ होती है और इस के शिचक वे लोग होते हैं जो, यदि उन्हें मालूम होता कि वेक्या कर रहे हैं तो, अपनी पापमय मूर्खता के लिये प्रायश्चित करते । उस छोटे से बचे के गिर्ट, -- ग्राह! उस बच्चे के गिर्ट जिस की रज्ञा करना सव का कर्तव्य या-उसी के माता-पिता, सम्बन्धी, नौकर-चाकर सव मिल कर इकट्ठे हो जाते हैं! किसलिये ?—षड्यन्त्र रच कर उसे कुचेष्टात्रों का पाठ पढ़ाने के लिये, उस का जीवन-धन लुटाने के लिये, उसे मुलियामेट करने के लिये ! 'सम्बन्धी' कहलाने वाले इन राच्नसों श्रीर पिशाचों में घिरा हुआ वालक यदि वच निकले तो, वस, चमत्कार ही सममाना चाहिये। ये लोग वच्चे की काम-वासना को जगाने में क्या-कुछ उठा रखते हैं ? यदि उस

के अभी बहुत छोटा होने के कारण प्रवृत्ति नहीं जागती तो वह प्रकृति की तरफ़ से बालक की रक्ता है, इन्हों ने उस के सर्वनाश में क्या कसर छोड़ी ? क्या यह कह देने से कि उन का उद्देश्य बुरा नहीं होता, वे केवल बालक को प्रसन्न करना चाहते हैं, बचाव हो सकता है ? आग से खेलने वाले के उद्देश्य को कौन पूछता है ? उद्देश्य तुम्हारा ताक में घरा रह जायगा और तुम्हारी करतूत थोड़े-ही दिनों में वह विकराल रूप धारण कर लेगी कि तुम दाँतों तले उँगली दवाते रह जाओगे ! तुम्हारी जहालत का नतीजा थोड़े-ही दिनों में तुम्हारी आँसों के समाने आ जायगा!

(५) घर छोड़ कर बालक स्कूल में जाता है। अफ़्सोस! वहाँ का वातावरण भी उस के मोलेपन का, उस की जवानी का दुरमन है। कई लोग यह छुन कर चौंक जायँगे, श्रीर कई इस बात की हामी भरते हुए शान्त रहेंगे, क्योंकि सचमुच श्राजकल के स्कूल बचों के आचार को नष्ट करने के मुख्य स्थान और मुख्य साधन हैं। स्कूल-मास्टर किताब लेकर पढ़ाता है, श्रीर ऐन उस की श्रांचों के नीचे लड़का श्रपनी कल खोद लेता है श्रीर 'दिये तले श्रंचरा' वाली उक्ति को चरितार्थ करता है। स्कूल में कितावें पढ़ाई जाती हैं श्रीर इन्तिहान की तथ्यारी करायी जाती हैं परन्तु स्कूल की चहार-दीवारी की श्रन्धेरी गुफ़ाओं में ही शैतान ख़म ठोक कर अपने चेलों को तथार करता है। हनारों निर्दाप बालकों की श्रात्मा स्कूल के कमरों में प्रविष्ट होते समय शुद्ध तथा पंकित होती है परन्तु, श्रफ़सोस! उन कमरों से निकलते

समय वे हस्त-मेथुन की भयँकर महामारी के शिकार वन चुके होते हैं। स्कूलों के आत्मिक अवःपतन की कहानियाँ नई नहीं, प्रानी हैं; ऐसी-ऐसी हैं जिन्हें सुन कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं! हेवलाक इलिस महोदय ने अपनी प्रस्तक 'सैचुअल सिलेचन इन मैन' नामक प्रस्तक में एक व्यक्ति की आत्म-कथा इस प्रकार दी है:—

" मैं दस वर्ष की श्रायु में स्कूल में भर्ती हुश्रा। वहाँ स्कूलं के गन्दे वातावरण में प्रचलित हुई-हुई कुचेष्टाओं की वात-चीत मेरे कान में भी पड़ी । मुक्ते इस से बचाने वाला-चेतावंनी देने वाला-कोई न था। मैंने इन वार्तों में हिस्सा लेना शुरु किया श्रोर शीघ-ही हस्त-मेशुनादि की श्रादत से परिचित हो गया। में हाय से अपने को ख़रात्र न करता था, उल्टा लेट नाता था । ख़ले तौर पर तो सभी लड़के हस्त-मैशुन को स्कूल में बुरां कहते थे परन्तु अन्दर-ही-अन्दरं इस का वढ़ा प्रचार था। इस स्कूल को छोड़ कर मुभे अन्यं दो स्कूलों में जाना पड़ा, उन में भी यह भादत बहुत फेली हुई थी। लड़के अक्सर इस विषय की चर्चा किया करते थे, इस के हानि-लाभ पर भी विचार करते थे श्रीर श्रिषक तर यही समभा जाता था कि यह बुरी लत है। एक दिन श्रचानक मेरे कान में कुछ भनक सी पड़ी, जिस से मुभे विश्वास होने लगा कि लड़कों के इस कथन में कि हस्त-मैशुन मर्ज्य को कंमज़ोर वना देता है, सत्यता अवश्य है। वह भनक यह थी कि वचपन में किये गये हस्त-मेथुन के परिणाम वड़ी

उम्र में जाकर प्रकट होते हैं। उस समय मुक्ते स्कूम पड़ा कि मुक्ते यह श्रादत छोड़नी होगी, परन्तु मेरे दिल में इस बात का डर बना रहा कि इतनी छोटी उम्र में इस श्रादत का शिकार बन नाने के कारण मुक्ते काफ़ी हानी पहुँच चुकी है।

''यद्यपि मेरा इस आदत से छुटकारा हो गया तथापि इतनी छोटी उम्र में गिर जाने के कारण में कई वीमारियों का शिकार वन गया। परन्तु स्कूल में रहते हुए मैं उन दुः खों को मुँह से निकालते हुए भी डरता था यद्यपि उन के कारण मेरा हृदय वेठा जाता था और नमें टूटी नाती थीं। परिणाम और भी भयंकर हुआ। ज्यों-ज्यों मैंने इस विषय पर पुस्तकें पढ़नी शुरू कीं, उन में लिखे हस्त-मैथुन के दुष्परिणामों को पढ़ा, श्रौर इस पाप के लिये प्रकृति-देवी जिस निष्ठुरता से कठोर दग्रड देती है यह सत्र कुछ पढ़ा, तो मेरा हृद्य काँप उठा ! स्कूल छोड़ने पर भी मेरा जीवन इसी प्रकार चलता रहा । चरित्र-प्रधार के लिये हृद्य में प्रवल भाव उठता, पिछले किये हुए पाप मूर्तिमान होकर डरावनी शक्ल में सामने खड़े हो जाते, कॅपकॅपी छूटती, पधात्ताप होता श्रोर हर समय पागल हो जाने का डर बना रहता। परन्तु जिस बात से मेरी जान निकली जाती थी वह यह थी कि मुभे भी रे-भी रे पता चला कि अभी मेरा हस्त-मैशुन की आदत से पूरा-पूरा छुटकारा नहीं हुआ था। नहाँ तक मेरीं जागृत-चेतना का सम्बन्ध था, मैं इस त्रादत से छूट चुका था ; काम-वासना चाहे कितनी भी प्रवल क्यों न होती मैं उस के वशीभूत न होता था ; परन्तु

एक रात मैंने देखा कि सोने तया जागने के बीच की अवस्था में जब मनुष्य अर्धनिद्धित होता है, जब चेतना पूरी चैतन्य नहीं होती, मैं इस श्रादत का शिकार बन रहा था। ऐसा प्रतीत हुआ कि देवी तथा श्रामुरी भावों में घनघोर संग्राम हो रहा है श्रीर श्रामुरी भाव देवी भावों को दबा रहे हैं। शायद यह अनुभव मेरा ही नहीं; जो भी इस कश्मकश में पड़े होंगे, सभी का होगा, परन्तु मुभे श्रपनी यह श्रवस्था देख कर श्रत्यन्त दुःख हुआ। इस श्रादत से छुटकारा पाने के लिये मैंने श्रनेक उपाय किये। श्रन्त में में श्रपने को इस प्रकार बांध कर सोने लगा जिस से उल्टा न हुआ जा सके श्रीर इस उपाय से मुभे इस बुरी लत से छुटकारा पाने में बहुत कुछ सहायता मिली।"

उक्त जीवन-कथा के साथ निम्न जीवन-वृत्तान्त भी कम शिज्ञाप्रद नहीं है। यह भी उसी प्रस्तक से लिया गया है:—

"में ७ या ८ वर्ष का था। मेरे मन, वाणी तया कर्म में किसी प्रकार की अपवित्रता का लेश मात्र भी न था। अपने गाँव के एक स्कूल में में पढ़ने जाया करता था। वस, इस स्कूल में ही मेरे हृदय में उन भावों का बीज बोया गया जिन्हें पीछे से जाकर में पहचान सका कि वे कामुकता के भाव थे। अपने ही साथ के एक लड़के की तरफ मेरा ख़ास सुकाव होने लगा। वह मेरी ही उम्र का था। मुभे वह वड़ा रूपवान दीख पड़ता था। मेरे हृदय में उस समय उस लड़के के सम्बन्ध में क्या २ भाव उठते थे इस का मुभे पूरा-पूरा ज्ञान नहीं। हाँ, इतना स्मरण

श्रवश्य हैं कि मैं उस के पास रहना चाहता था, कभी-कभी उसे चूम लेने की इच्छा भी होती थी। यदि वह अचानक मेरे सामने आ जाता तो मुक्ते शर्म आ जाती, यदि वह मेरे साथ न होता तो मैं उसी के विषय में सोचा करता और उन मौकों की ताक में रहता जिन में उस से फिर भेंट होने की आशा होती। यदि वह मुक्ते अपने साथ खेलने के लिये निमन्त्रित करता तो मेरी खुशी का ठिकाना न रहता।.............

"एक परिवार के सात भाई उसी स्कूल में पढ़ने आया करते थे, हम सब लोग बैठ कर आपस में गन्दी-गन्दी कहानियाँ एक दूसरे को सुनाया करते थे।.....

"जन मैं दस वर्ष का हुआ तो मैंन अपने पिता के गाड़ी-वान से बहुत कुछ गन्द सीखा। १२ वर्ष की आयु में मुभे एक प्राथमिक पाठशाला में भेजा गया। मुभे रहना भी वहीं होता था। छुट्टियों में मैं घर पर अपने पिता के चपरासी से कामुकता सम्बन्धी बात-चीत किया करता था। उस ने मुभे बहुत कुछ बतलाया होगा। इस समय मुभे उत्तेजना होने लगी थी। एक दिन जब सब लोग घर से बाहर गये हुए थे, मैं अकेला घर में बिस्तर पर लेटा हुआ था, वह नौकर अन्दर घुस आया। इस समय मैं अकेला पड़ा हुआ कामुकता के विचारों में लीन था और उत्तेजितावस्था में था। उस ने मुभे गिराने की कोशिश की। पहले मैंने प्रतिरोध किया, परन्तु फिर मैं प्रलोभन के सन्मुख गिर गया। कुछ देर बाद वह मुभे छोड़ कर चला गया। मेरा दिमाग इतना उत्तेनित हो उठा कि मेरे लिये सोना मुश्किल हो गया । मुभे अनुभव होने लगा कि मेरे सन्मुख एक आनन्द-दायक रहस्य ख़ुल गया । वस, फिर क्या था, मैं हस्त-मैथुन करने लगा । मुभे याद नहीं कि मैं कितनी वार अपने को ख़राव करता था- शायह सप्ताह में एक या दो वार । पीछे से मुफे स्वयँ अपने से शर्म आने लगती । हस्त-मैथुन के बाद कभी-कभी जननेन्द्रिय में और कभी-कभी अग्रडकोशों में दर्द होता, परन्तु लजा का भाव तो सदा ही वना रहता । लजा का भाव कैसा था ? — दिल इस बात से बेचेन होता था कि मैंने वह काम किया है जिसे सब बुरा समभते हैं। मैं जानता था कि मेरे अध:-पतन को मुभे छोड़ दूसरा कोई नहीं जानता, परन्तु जिस से भी वात करता, ऐसा अनुभव होता जैसे उसे सब कुछ मालूम है, दिल तक की पहचानता है परन्तु मेरी इज़्जत रखने के लिये कुछ नहीं बोलता । मुभे यह डर भी लगने लगा कि इस से मैं अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचा रहा हूँ। एक दिन मेरे श्रध्यापक ने मुभे बुला भेजा। उस ने मुभे कहा कि मेरे विस्तर पर उस ने एक दाग देखा है । इस समय मुक्ते स्वप्न-दोप होने लगा था । मुभे याद नहीं रहा कि यह दाग स्वप्त-दोष का था, या हस्त-मैथुन का । जब उस ने कहना शुरू किया कि इस दाग का होना मेरे पतित होने का प्रमाण है तो मैंने स्वीकार कर लिया। उस ने मुभे कहा कि इस से मेरा स्वास्थ्य विगड़ जायगा, सम्भवतः दिल कमज़ोर हो जायगा या दिमाग लराव हो जायगा । उस ने मुक्त से शाय लेने को कहा कि आगे से ऐसा नहीं करूँगा।
मैंने शाय ले ली। मुक्ते अपनी नीचता पर दुः ल हुआ, लजा
आयी और उस के परिणामों को सुन कर में काँप उठा। मेरा
अध्यापक कभी-कभी मुक्ते बुला कर पूछ लेता था कि मैं अपनी
प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहा या नहीं। कई महीनों तक मैं वचा रहा।
परन्तु फिर मैं इस आदत के सामने मुक्त गया और जब मुक्त से
पूछा गया तो मैंने अपनी कमज़ोरी को स्वीकार कर लिया।
अन्त में अध्यापक ने मुक्ते बुला कर पूछना भी छोड़ दिया; या
तो उस ने समक्ता होगा कि मैं अब ठीक हो गया हूँ या उस की
अह धारणा हो गई होगी कि मेरा सुधरना ही नामुमिकन है।"

पाठक ! इन अनुभनों के साथ अपने जीवन की नोट-नुक़ मिला कर देखो । क्या इन अनुभनों में तुम्हें अपने जीवन की घटनाओं की प्रति-ध्विन सुनाई नहीं पड़ती ? क्या तुम भी प्रीष्म-अनु की किसी सायँकाल, या एकान्त में लेटे हुए किसी दिन, किसी पापिष्ठ नौकर के चुँगल में तो नहीं पड़ गये थे, अपने स्कूल के ही किसी सायी के शिकार तो नहीं वन गये थे ? क्या तुम्हें याद नहीं कि पहले-पहल तुम में प्रतिरोध करने की इच्छा वेग से उठी थी—तुम ते सारा वल लगा कर वचने की कोशिश की, परन्तु, अफ़सोस, तुम्होरे शिकारी ने अपना पड़ा दीला न होने दिया । आह ! आत्मा की निर्वलता का वह ज्ञा, देव तथा असुर भाव का वह संग्राम ! तुम ने उस समय अपने को दीला छोड़ दिया ! पत्ते को आँची उड़ा ले गई, तिनके को

दरिया नहा ले गया ! इस गिरानट के श्रगले चल तुम्हारी क्या श्रवस्था हुई थी ?-- लज्जा के मारे तुम ज़मीन में गड़े जा रहे थे ; यह लज्जा नहीं लज्जा का ज्वर था! क्या उस समय तुम्हें श्रपने श्रन्तरात्मा से घृणा नहीं हो गई थी ? क्या उस समय तुम ने पश्चात्ताप-पूर्ण हृदय से परमात्मा के सन्मुख हाय जोड़ कर निस्सहाय श्रवस्या में यह प्रार्थना नहीं की यी कि यदि फिर दुवारा तुम्हारे घात्मा की पवित्रता पर ऐसा ही हमला हो तो शक्तिमान् भगवान् तुन्हें उच-स्वर से 'नकार' कहने की शक्ति दें ? श्रीर क्या फिर परीज्ञा का श्रवसर उपस्थित नहीं हुश्रा; श्रौर क्या उस समय भी प्रतिरोध, प्रलोभन की प्रवलता तथा श्रन्त में तुम्हारी लज्जा-ननक हार नहीं हुई ? क्या उस समय तुम पर लज्जा का पहाड़ नहीं टूट पड़ा ? क्या उस समय तुम में अपने मुख को दर्पण में देखने की शक्ति रह गई थी ? श्रीर क्या यह कित्सा तुम्हारे जीवन में जार-तार दोहराया नहीं जाता रहा ? यहाँ तक कि अन्त में तुम्हारी प्रतिरोध-शक्ति सर्वया नष्ट हो गई श्रौर तुम इस घातक श्राद्त के पूर्णतया दास हो गये ? ऐसे ज्ञाए भी श्राये जब कि तुम ने इस श्रादत से छुटकारा पाने के लिये हाय-पाँव मारे, शायद कभी-कभी तुम ने समभा भी कि तुम छूट गये, परन्तु तुम्हारी निराशा, श्रार्थ्यय श्रीर दुःख का पारावार न रहा जव तुर्न्हें एक भयंकर अधेरी रात को यह मालूम हुआ कि अर्ध-निदित ग्रवस्था में तुम इस त्रादत के गुलाम हो रहे थे ! ये श्रनुभव हैं जो प्रायः प्रत्येक नवयुवक को अपने जीवन में प्राप्त हुए होंगे !!

मानसिक कारण

(१) श्रभी ऊपर काम-वासना को जागृत करने वाले भौतिक कारणों का उल्लेख किया जा चुका है। इस में सन्देह नहीं कि बालक की प्रारम्भिकावस्या में यदि काम की प्रवृत्ति जाग उठे तो उस में मन का इतना बड़ा हिस्सा नहीं होता जितना शरीर का, क्योंकि अभी मानसिक-विकास ही बहुत कम हुआ होता है। परन्तु धीरे-धीरे शारीरिक अवस्था का मन पर और मानसिक अवस्था का शरीर पर प्रभाव पड़ने लगता है। वड़ी श्रायु के व्यक्ति में शारीरिक उत्तेनन से मनोविकार तया मनोविकार से शारीरिक उत्तेजन होने लगता है। "कभी-कभी हस्त-मैथुन केवल इन्द्रियों की घटना होती है, मन का उस में विल्कुल दख़ल नहीं होता, व्यक्ति के मन में कोई लिंग-सम्बन्धी विचार नहीं होता, यह केवल एक शारीरिक क्रिया होती है, परन्तु ऐसी अवस्था प्रायः तभी तक रहती है जब तक मानसिक विकास नहीं हुआ होता । मानिसक विकास हो जाने पर शारीरिक उत्तेजना होते ही मन अपनी बनाई प्रतिमाएँ सामने ला खड़ी करता है। कभी किसी लड़के और कभी किसी लड़की का ख्याल दिल में ला कर वह हस्त-मैथुन का शिकार, अपना ही शिकार खेलने लगता है। लड़कियाँ भी अपने को ख़रात्र करती पायी गई हैं। केवल-शारीरिक हस्त-मैथुन-ऐसा, जिस में शारीरिक उत्तेजन तो होता है परन्तु मन-द्वारा कुछ नहीं सोचा

जाता—प्रायः बच्चों में ही पाया जाता है, जवानों में नहीं। जवान तो शरीर और मन दोनों की सहायता से अपना सर्वनाश करने पर तुल जाते हैं।" जवानी में हान्त-मैथुन अधिकतर मानसिक रूप धारण कर लेता है। प्रेमी की कल्पना कर मन में भिन्न-भिन्न प्रकार के संकल्प-विकल्प उठा कर जीवन को भार बना लेने वाले युवकों की कमी नहीं है। लड़के-लड़कियाँ 'कुविकल्पों'---'क़ित्सित कल्पनाओं'- से अपने मन को ख़रात्र कर लेती हैं। गन्दी-गन्दी. अश्रील तस्त्रीरों को देख कर जिन्हें प्रायः मूर्ल माता-पिता मकानों में लटकाते हैं, बच्चे के मन में तरह-तरह के गन्दे विचार उठने लगते हैं। भला माता-पिता के दिल में ही उन्हें देख कर कौन-से श्रच्छे विचार उठते होंगे ? सभ्यता का दम भरने वाले इस युग में मनुष्य का मन कितना गन्दा हो चुका है, यह देखना हो तो किसी स्टेशन के बुक-स्टाल पर विखरे हुए उपन्यासों के नाम पढ़ जात्रो, उन की तस्वीरें देख जात्रो, --- वस, इतना ही इस युग का नम्न-चित्र आँखों के सन्मुख खींच देने के लिये पर्याप्त है। आन विद्यार्थी-जगत् में सनसनी पेट्रा करने वाली काल्पनिक घटनात्रों का चित्र खींचने वाले नाविल पढ़े जाते हैं और उन के पढ़ने में वे उन गन्दी घटनाओं का मज़ा लेने की कोशिश करते हैं। स्कूल के लड़कों की मख़ौर्ल सुनो, दीवारों पर लिखे उन के मद्य-पद्य मय वाक्य पढ़ो, मालूम हों जायगा कि हमारे बच्चों की कल्पना-शक्ति किस गन्द की द्लद्ल में लतपत पड़ी है। कल्पना को गलाने वाला, उसे सड़ाने

वाला, व्यभिचार और दुराचार का वायुमएडल पैदा करने वाला हश्य देलने के लिये लड़के नाटकों, सिनेमाओं और नाचघरों में जाते हैं, और फिर उन की जो अवस्था हो जाती है उस के लच्चण पूरे एक बीमारी के होते हैं। उन का दिमाग कामुकता की गन्दी-से-गन्दी कल्पनाओं से इतना भर जाता है कि उन से 'इन्द्रिय-निग्रह' की आशा रखने वाला ही मूर्ख है। तभी प्राचीन काल में ब्रह्मचारी को जो उपदेश दिये जाते थे उन में यह भी होता थाः—'नर्तनं गीतवादित्रं वर्जय'—नाचना, गाना, वजाना छोड़ दो—ये ब्रह्मचर्य्य जीवन के लिये नहीं हैं।

(२) 'कुत्सित-कल्पनाएँ' जहाँ एक त्रोर लड़कों को ख़रान करती हैं वहाँ दूसरी त्रोर 'चिन्ता' भी उन की जड़ खोखली करती रहती है। लड़कों के अनेसर्गिक मार्गों के अवलम्बन कर लेने का यह दूसरा कारण है। चिन्ता से मन पर एक बोम्म-सा पड़ा जान पड़ता है। चिन्ता में डूबे हुए बालक हस्त-मेशुन की तरफ़ कुक जाते हैं क्योंकि इस से उन के स्नायु-तन्तुत्रों का खिचाव कुछ देर के लिये ढीला हो जाता है। चिन्ता के तनाव खो मनुष्य अधिक देर तक वर्दाश्त नहीं कर सकता, वह इस बोम से अपने को हल्का करने का यही सस्ता उपाय हुँढ निकालता है, परन्तु उस भोले को मालूम नहीं होता कि कुछ चाणों के लिये हल्का होकर वह अपनी मूर्खतावश पहले से भी मारी बोम सिर पर लाद रहा होता है। वीर्यनाश से थोड़ी ही देर

में वह अपने को खेाखला अनुभव करने लगता है, और पहली चिन्ता के साय यह खोखलेपन की चिन्ता और वढ़ जाती है। डा॰ एलवर्ट मौल एक बीस वर्ष के युवक के अनुभव का उछेख इस प्रकार करते हैं:—

"उस का कथन है कि १६ वर्ष की श्रायु में उसे पहलीवार काम-भाव का श्रवुभव हुश्रा। इस से पहले भी उस के साथियों ने स्त्री-प्रसंग, हस्त-मेथुन श्रादि की चर्चा उस से की थी, परन्तु उस ने कभी श्रपने को ख़राव नहीं होने दिया था। एक दिन जब कि वह ऊँची श्रेणी में पढ़ता था उसे गणित का एक प्रश्न हल करने को दिया गया। वह उस प्रश्न को हल न कर सका— इस से उसे चिन्ता होने लगी। उस का ऊँची श्रेणी में चढ़ना भी इसी पर श्राश्रित था, इस से चिन्ता श्रोर श्रधिक बढ़ी। श्रभी वह श्राधा ही सवाल हल कर पाया था कि श्रध्यापक ने ऊँची श्रावाज़ में कहा—'१० मिन्ट वाकी हैं, इस के बाद उत्तर-पत्र ले लिये जायँगे।' इस पर उस की चिन्ता हद्द-दज़ें पर पहुँच गई श्रोर तत्त्रण उस ने श्रनुभव किया कि उस का वीर्यपात हो गया था।"

एक और लड़के ने डा॰ एलबर्ट मौल को बतलाया कि एक वार वह श्रेणी में, विना-देखे किसी स्थल का, अनुवाद कर रहा था, और उसे डर था कि घण्टा समाप्त होने से पहले वह उसे समाप्त न कर सकेगा। इस की उसे इतनी चिन्ता बढ़ी कि वीर्य स्वलित हो गया। कई लोगों का, जो किसी गहरी चिन्ता के कारण अन्त में आत्म-हत्या कर बैठते हैं, चिन्ता से ही

वीर्य स्वलित हो जाता है। मन पर चिन्ता का भार जब बहुत बढ़ जाता है तो वह इसी प्रकार अपने बोम्म को हल्का करता है। इसीलिये इम्तिहान के दिनों में चिन्ता से मारे हुए लड़कों का रात में कई-कई वार स्वप्त-दोष हो जाता है। वे बेचारे क्या जाने, इम्तिहान की चिन्ता उन के जीवन को कहाँ तक सुखा डालती है। यह भी कई लोगों का अनुभव है कि जब स्वप्त-दोप को रोकने की भारी चिन्ता की जाती है तब वे और अधिकता से होने लगते हैं। इस का कारण भी चिन्ता के सिवाय कुछ नहीं है। स्वप्त-दोष से बचने की 'चिन्ता' करने वाले व्यक्ति के लिये उस से बचना मुश्किल हो जाता है।

(३) 'वेकारी' भी मनुष्य के नैतिक-पतन में सहायक है। यह सममना कि मन विना किसी संकल्य-विकल्प के ख़ाली रह सकता है, मनोविज्ञान से अनिम्ज्ञता सूचित करना है। जब मनुष्य सममता है कि उसका मन ख़ाली है उस समय भी मन में विचार—श्रीर प्रायः गन्दे विचार—चक्कर काटा करते हैं। जो लोग वेकार होते हैं, सममते हैं कि उन का मन ख़ाली है, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि उस ख़ालीपन का स्थान या तो 'कुत्सित-विकल्प' ले लेते हैं और या 'चिन्ता'; श्रीर ये दोनों ही मनुष्य को गिराने वाले शतान के श्रीज़ार हैं। एक वार ऋषि दयानन्द से पूछा गया कि उन्हें कामदेव सताता है या नहीं ? ऋषि ने उत्तर दिया—हाँ, वह श्राता है परन्तु उसे मेरे मकान के वाहर ही खड़े रहना पड़ता है क्योंकि वह मुक्ते कभी ख़ाली ही

नहीं पाता । ऋगि दयानन्द कार्य में इतने न्यप्र रहते थे कि उन्हें इघर-उघर की वार्तों के लिये फ़र्सत ही नहीं थी, श्रीर यही ऋगि दयानन्द के ब्रह्मचर्य का रहस्य था।

श्ररे वालक! क्या तू वेकार घूमा करता है ?—श्रोह! तव तो इस वात का डर है कि कहीं तू अनैसर्गिक श्रादतों का शिकार न वन जाय! इस में संदेह नहीं कि तुम्म पर इस प्रकार का सन्देह करना तेरा श्रपमान करना है, परन्तु माफ़ करना, संसार का श्रन्जभव यही कहता है। क्या तू शिकायत किया करता है कि तेरे पास समय नहीं ? अरे, लोगों को काहे को वहकाता है, तू समय का सदुपयोग ही नहीं करता, तेरे पास तो समय-ही-समय है! हम भारतीय, समय का मूल्य नहीं जानते। वेकारी में ही हमें श्रानन्द श्राता है। श्रालस्य हमारी नस-नस में ग्रसा हुआ है। समय का मूल्य समम्मने में हम सब से पिछड़े हुए हैं। नावल पढ़ने श्रीर थियेटर देखने की सम्य-समाज की वेकारी ने हमारे पाप को दुगुना कर दिया है। शितान के साथ हमारी दोस्ती बढ़ती जाती है क्योंकि वेकारी तो शैतान की ही दासी है!

परिणाम

मनुष्य-समान के श्रस्वाभाविक पतन के भौतिक तथा मान-सिक 'कारणों' पर हम ने विचार कर लिया। श्रव हमें इस पतन के 'परिणामों' पर विचार करना चाहिये। हस्त-मैथुन श्रयवा श्रमैसर्गिक मैथुन के परिणामों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है: --शारीरिक; मानसिक; त्रात्मिक। अत्र हम इन का क्रमशः वर्णन करेंगे।

शारीरिक परिणाम

इस्त-मैथुन का परिणाम शरीर पर जो होना है सो तो है ही, परन्तु वह जननेन्द्रिय पर भी कम नहीं होता। इस प्रकार जो वीर्यनाश होता है उस से वीर्यवाहिनी प्रणालिका पूरी तरह खाली नहीं होती, और वचा हुवा अंश उस प्रणालिका में पड़ा-पड़ा सड़ता है और मूत्र-वाहिनी प्रणालिका में जलन उत्पन्न करता है। यह जलन कभी-कभी इतनी बढ़ जाती है कि इस आदत के रोगी को पेशाव में भी चिनक-सी होने लगती है । मूत्राशय का कार्य भी मुस्त हो जाता है और वार-वार पेशाव जाने की इच्छा होती है। इस जलन से दूसरे उत्पात भी उठ खड़े होते हैं। इन्द्रिय रह-रह कर उत्तेनित हो उठती है- उस उत्तेनना में भी दु:ख होता है ; रात को सोते-सोते स्वप्त-दोष हो जाता है । जो इस श्रादत में बहुत श्रागे बढ़ जाता है उसे श्रनुभव होने लगता है कि पहले तो स्वयँ उत्तेजना हो जाती थी पर अब चाहने पर भी इन्द्रिय शिथिल रहती है। यभी हुई नों काम नहीं करतीं, उन्हें जगाने के लिये तीन उत्तेनक मार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है। यके हुए घोड़े से लम्बा रास्ता तय कराना हो तो कस-कस कर कोड़े मारे जाते हैं। यह प्रकृति का ही नियम है। अब उस अभागे को हस्त-मैथुन से भी उत्तेनना नहीं होती, वह अन्य श्रनेसर्गिक उपायों को हूँढने लगता है। श्रीर जैसे श्रत्यन्त थके घो रे पर श्राख़ीरी कोड़ा पड़ता है, श्रौर उस की छटपटाते हुए जान निकल जाती है, इसी प्रकार उस थके हुए अभागे का भी या तो जीवन निश्शेष हो जाता है श्रीर या वह सदा के लिये पुरुपत्व को खो बैठता है । जननेन्द्रिय में चेतनता ही नहीं रहती श्रौर दिन को या रात को विना चाहे वीर्य स्वलित होने लगता है। अत्र वीर्य-स्वलन में भी हर्प का अनुभव नहीं होता। कईयों का वीर्य मूत्राशय में चला जाता है श्रीर उन्हें मूत्र-मेह हो जाता है । कभी-कभी ट्टी फिरते कतरे-कतरे कर के वह वह निकलता है | बुरी त्रादत का रोगी वास्तविक अर्थों में रोगी हो जाता है। यदि ऐसा श्रादमी विवाहित हो तो स्त्री-प्रसंग होने से पूर्व ही उस का वीर्य स्विलित हो जाता है। अपने इस पतन को देख कर उस के हृदय में अपने प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है और वह स्त्रियों से भी डरने लगता है। उस में वीर्य धारण करने की शक्ति ही नहीं रहती। श्रगडकोशों पर भी बहुत ज़्यादह वोभा पड़ चुका होता है, क्योंकि वहीं से तो वीर्य उत्पन्न होता है, श्रतः उन में भी दुई होने लगती है । वीर्य-वाहिनी शिराएँ कमज़ोर हो जाती हैं, अगडकोश बहुत नीचे ल्टकने लगते हैं। गुह्य-श्रंगों में ताकत नहीं रहती, वे ढीले पड़ जाते हैं, उन की नर्से उभर श्राती हैं। एक शब्द में, हस्त-मैथुन से मनुष्य के उंत्पादक-श्रंग अयोग्य हो जाते हैं श्रोर वह फिर ह्रान्त-मेथुन के लायक भी नहीं रहता। वह जिस चीज़ का श्रानन्द ज़ुठाना चाहता है उसी से उसे विन्ति कर विया नाता है क्योंकि इस दिशा में रखा हुआ एक-एक कदम मनुष्य को नपुंसकता की तरफ़ं ले नाता है।

इस के अतिरिक्त इस अनैसर्गिकता का नो प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है वह भी किसी से व्रिपा नहीं रहता। आख़िर, शरीर के रुधिर ही से तो वीर्य वनता है। जो वीर्यनाश करता है वह इस रुधिर ही के कोश को खाली करता है और ज्यों-ज्यों यह आदत जड़ पकड़ती जाती है त्यों-त्यों रुधिर में कमी त्राती जाती है। इसीलिये हस्त-मेथुन के शिकार को उन सन वीमारियों का शिकार भी वनना पढ़ता है जो रुविर की कमी से होती हैं। सिर के वाल उड़ जाते हैं, सफ़ेट़ हो जाते हैं, श्राँखों में ज्योति नहीं रहती, वे श्रन्दर वस जाती हैं श्रीर उन के इर्द-गिर्द काला-काला घेरा वन जाता है । दाँत ख़राव होने लगते हैं, चेहरे पर रौनक नहीं रहती । बाती सिकुड़ जाती है, कन्धे मुक्त नाते हैं, हाज़मा विगड़ नाता है। जब छुछ पचता नहीं तत्र या तो कञ्ज़ हो जाती है या दुस्त लग जाते हैं। शरीर भूखा-सा रहता है । चीण रुधिर पुष्टि चाहता है ; यह पुष्टि द्वा-दारु से नहीं मिल सकती, वाजीकरण श्रीपियों से नहीं मिल सकती, यह मिलती है खुले द्वार को वन्द कर देने से, वीर्य की रक्ता करने से ! हृद्य में भी प्यीप्त रुधिर नहीं पहुँच पाता, वह घड़कने लगता है और खून के न मिल सकने से फेफड़े भी कीए होने लगते हैं। अंति हुयों में भी खून की कमी हो जाती है,

उन भें तरावट नहीं रहती श्रोर इसलिये दस्त खुल कर नहीं श्राता । मूत्राशय श्रोर गुर्दे की बीमारियाँ भी घर करने लगती हैं। शरीर के दूर-दूर के हिस्सों तक—हाथों श्रीर पैरों तक— पूरा-पूरा रुघिर नहीं पहुँच सकता, इसलिये वे ठएडे रहने लगते हैं। शरीर के जोड़— सिर, गर्दन, कन्धे, कोहनी, घुटने— दुखने लगत हैं, श्रोर यह सब कुछ खून की कमी से होता है। दोस्त देख कर अचम्भा करते हैं और पृछते हैं, तुम्हें क्या हो गया ? प्रकृति कोध में आकर हस्त-मैथुन के अपराधी को ऐसा दएड देती है जिस से वह अपने उत्पादक-अंगों का दुरुपयोग तो क्या, किसी प्रकार का उपयोग भी नहीं कर सकता। उस का यह श्रपराध क्या कम है कि परमात्मा की जिस देन से वह श्रपने श्रात्मा की उन्नति कर सकता था उसी को उस ने वेत-हाशा लुटाया ! इस दुरुपयोग को देख कर प्रकृति अपनी देन वापिस ले लेती है श्रीर हमारी परिभापा में उस मनुष्य को नपुँसक- श्रपाहिन- कोड़ी- कहा जाता है !

एक प्रख्यात डाक्टर का कथन है कि हस्त-मैथुन से, श्रयवा श्रनेसर्गिक सम्बन्ध से, होने वाली वीमारियों की सूची पूरी-पूरी तय्यार ही नहीं की जा सकती। कामुकता के भाव की प्रचर्रिकता से मनुष्य की स्नायु-राक्ति का हास होता है, यह स्नायु-शक्ति वीर्य में रहती है, श्रोर वीर्य का एक श्रोंस शरीर के किसी हिस्से के भी ४० श्रोंस रुधिर के बराबर है। स्नायु-शक्ति के हास से मनुष्य का शरीर हरेक प्रकार की वीमारी को निमन्त्रण देने के तिये हर समय तय्यार रहता है। इस प्रकार जो वीमारियाँ शरीर में प्रवेश करती हैं उन का भी कारण मनुष्य का श्रस्याभाविक जीवन ही है। कामुकता से वीर्य तथा स्नायु-शक्ति दोनों का द्रास होता है अतः 'श्रात्म-व्यभिचार' से वीर्य तथा स्नायु-सम्बन्धी अनेक उपद्रवों का उठ खड़े होना स्वाभाविक है।

इस प्रकरण में एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। जिन लक्त्यों का वर्णन किया गया है, इस में सन्देह नहीं कि वे वीर्य-हास के कारण उत्पन्न होते हैं, परन्तु इस का यह श्रमिप्राय नहीं कि नहाँ ये लक्ताए दिखाई दें नहाँ अवश्य वीर्यनाश ही कारण है। कई श्रधकचरे विचारों के लोग किसी भी भलेमानस पर सन्देह करने लगते हैं। किसी को कब्ज़ हुई तो फ़ौरन सन्देह करने लगे, किसी को जुकाम हुआ तो फ़ौरन उस के आचार पर उँगली उठाने लगे। ऐसे अन्य-भक्तों ने ब्रह्मचर्घ्य के कार्य को जो धका पहुँचांया है वह शायद उस के राजु भी न पहुँचांवेंगे ; ऐसे ही लोगों के कारण ब्रह्मचर्य्य बदनाम हो जाता है। इसी से तो ब्रह्मचर्घ्य होत्रा वन गया है। यह समम खना चाहिये कि जहाँ ब्रह्मचर्य से शरीर की रचा होती है वहाँ और कई कारणों से भी शरीर की रचा होती है; श्रीर नहीं ब्रह्मचर्घ्य-नाश से शरीर खराब होता है वहाँ और भी कई कारणों से शरीर ख़राब हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक हृष्ट-पुष्ट माता-पिता के व्यभिचारी पुत्रं का शरीर दुबले-पतले माता-पिता के सदाचारी पुत्र से अच्छा हो सकता है, परन्तु इस का यह अभिप्राय नहीं कि व्हष्ट-पुष्ट

ष्यभिनारी को देख कर हम उसे ब्रह्मचारी समभने लगें और दुवले-पतलं मदानारी को देख कर उसे व्यभिनारी कहने लगें। ब्रह्मचर्य के यथार्थ भाव को न समभने वाले ऐसा ही करते हैं। व यह नहीं सोनतं कि ब्रह्मचर्य के श्रतिरिक्त दूसरे भी कारण संपार में मौजूद हैं! ऐसे लोग या तो 'ब्रह्मचर्य' के श्रन्धे भक्त चन रहते हैं श्रोर या दुनियाँ में अपने सिद्धान्तों को ठीक घटते हुए न देख कर ब्रह्मचर्य की ही खिछी उड़ाने लगतं हैं। इन दोनों सीमाओं से चनने के लिये ब्रह्मचर्य के यथार्थ भाव को खबर्य समम लेना नाहिये।

मानसिक परिणाम ्

मन का भौतिक-आधार मस्तिष्क है। मन द्वारा सोचने की प्रत्यज्ञ-क्रियाएँ मस्तिष्क में ही होती हैं। श्रतः किसी भी चीज़ के मन पर हुए प्रभाव का श्राभिप्राय मस्तिष्क पर पड़े प्रभाव से ही समक्तना चाहिये। जिस युरी श्रादत की चर्चा हम कर रहे हैं उस का शरीर के श्रातिरिक्त मन, श्रयवा मस्तिष्क पर भी बहुत गहरा तथा विस्तृत प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्क मनुष्य के जीवन का केन्द्र है—उस के विना वह न हिल-जुल सकता है, न सोच-समक्त सकता है। वह बड़ा कोमल भी है। हस्त-मैशुन का मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता है। श्रनेक जन्तु ऐसे देखे गये हैं जिन पर मेशुन का इतना हासकारी श्रासर होता है कि मैशुन की श्रवस्था में ही उन के प्राण्-पखेळ उड़ जाते हैं। कड़ी

पशु मैशुन में इतने स्नायु-शक्ति-हीन हो जाते हैं कि यकावट के मारे वे एक तरफ को गिर पड़ते हैं। इस से दिमागृ को इतना जबर्दान्त धका पहुँचता है कि प्रााय की प्रथम-रात्रि में ही कईयों की मृत्यु हो जाती है। इस विषय में तो सम्मति-भेद हो ही नहीं सकता कि किसी प्रकार का भी मैशुन अत्यन्त थकाने वाला, स्नायु-राक्ति को नर्नरित कर देने वाला कार्य है । इस में शरीर की नस-नस, पट्ठा-पट्ठा, हरेक हिस्सा, मानसिक भाव-सन पर इतना द्वाव पड़ता है कि मालूम पड़ता है, शरीर को किसी ने जड़ से हिला दिया। स्त्री-पुरुष के नियमित-प्रसंग में, जन दोनों पूर्ण श्रायु के हो चुके हों, वीर्यनाश से जो हानि होती है उस की बहुत-कुछ पूर्ति दोनों में एक-दूसरे के लिये उटने वाले प्रेममय मनोभावों से हो जाती है; कईयों का तो कयन है कि उन्हें शारीरिक दृष्टि से भी लाभ ही पहुँचता है, परन्तु हस्त-मैथुन . से तो हानि के सिवाय श्रौर किसी वात की सम्भावना ही नहीं है। इस के विपरीत, श्रात्म-लानि का भाव श्रात्मा को धिकार ही वतलाता है। म॰ हैविलाक इलिस महोद्य 'साइकोलीजी श्रॉफ़ सेक्स' के प्रथम लग्ड के २५३ प्रष्ठ पर लिखते हैं:---''पंति-पत्नी में से जिसका भी चुम्बन किया जाता है उसी में श्रभिमान, श्रात्म-गौरव तथा श्रात्म-सन्तोष के भाव का उद्य होता है। यह भाव, जो ब्रात्मा को उन्नत बनाने वाला है, ब्रात्म-व्यभिचार के घृणित कृत्य में नहीं उठ सकता । आत्म-व्यभिचार के विरुद्ध सब से वड़ी मनोवैज्ञानिक युक्ति यह है कि इस से प्रेम

की उत्कट भावना तृप्त ही नहीं होती । आत्म-व्यभिचारी प्रेम को हूँढने श्रौर उसे पाने की जगह उस से भागता है। प्रेम का भाव जहाँ त्रात्मा को उठा सकता था वहाँ यह भाव ब्रात्मा को गिरा देता है।" इलिस महोदय ने गौडफे की 'सायन्स' श्रॉफ़ सेक्स' पुस्तक का निम्न उद्धरण भी इस स्थल पर दिया है। गौडके त्रापनी पुस्तक के १७८ पृष्ठ पर लिखते हैं:—''यद्यपि त्रात्म-व्यभिचार जननेन्द्रिय की ही एक क्रिया है तथापि इसे ऊँचे श्रयों मं, श्रयवा साधारण श्रयों में भी, 'सैज्जुश्रल एक्ट' (काम-क्रिया) नहीं कहा जा सकता। 'सैक्स' (काम) शब्द में द्वित्व का अभिप्राय शामिल है जो हस्त-मैथुन में नहीं होता । स्त्री-पुरुष के प्रसंग में जो शारीरिक, मानसिक तथा ब्रात्मिक सहयोग पाया जाता है, और जो सहयोग ही वास्तव में उन के जीवन में स्थिरता तथा सुन्दरता का सञ्चार करता है, वह हस्त-मैथुन में कहाँ ? अतः एक दृष्टि से हस्त-मैथुन को 'सैच्चअल लाइफ़' (काम-जीवन) का श्रभाव कहा जा सकता है-इसे 'सैच्चश्रल" एक्ट' (काम-क्रिया) कहना ही ग़लती है।"

मनुष्य के मन में काम-भाव उठ खड़ा होता है, इस में सन्देह नहीं ! परन्तु हस्त-मेथुन उस भाव को शान्त करने का हिंगिज उपाय नहीं है । कामना किसी दूसरे के लिये होती है, हस्त-मेथुन में दूसरेपन का ही अभाव है, अतः इस का कामना से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, और ना ही इस से कामना का सवाल हल ही होता है । हाँ, इस से कामना नष्ट ज़रूर होती

है, श्रीर कामना के नाश का ही दूसरा नाम नपुँसकता या नामर्दी है। जान-यूक्त कर किसी प्रकार के भी वीर्यनाश से दिमाग खोखला हो जाता है, जीवन की धारा सूख जाती है। 'सेज्ञ-श्रल सायन्स' प्रस्तक के निम्न उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा कि मस्तिष्क तथा वीर्य का पारस्परिक सम्बन्ध कितना धनिष्ट है:—

" मैथुन करते-करते कई वृहों की मृत्यु होती देखी गई है श्रीर मृत्यु का कारण छोटे-मस्तिष्क का निश्चेष्ट हो कर मूर्झ में श्रा जाना होता है। रानहर्न्स का कथन है कि ४० वर्ष के एक व्यक्ति को विवाह की पहली रात्री में ही मूर्छा था गई । इलान करने पर वह अञ्छा तो हो गया परन्तु अपनी इञ्छाओं पर कावू न रख सकने के कारण जब उस ने अपने को खुला छोड़ा तो फिर मूर्जी का दौर हुआ और उस की मृत्यु हो गई। सेर्स एक ३२ वर्ष के आदमी का ज़िक करता है जिसे मैशुन की अवस्या में ही मूर्छी आ गई। वह उस से पहले द्वाद्व शराव के प्याले-पर-प्याले चढ़ा रहा या । मृत्यु के समय तक उसे उत्तेजना वनी रही । जब उस का श्वच्छेदन किया गया तव उस के छोटे-मस्तिष्क के मध्य-लएड़ में सूजन के चिन्ह दिख़ाई दिये, मस्तिष्क-तत्व कई जगहों से फटा हुआ मिला और दिमाग के अन्दर की कई यैलियों में रुधिर भरा हुआ पाया गया । एन्ड्रल ने एक ५०. वर्ष के आदमी का ज़िक़ किया है जिसे किसी वेश्या के घर से वाहर निकलते ही मूर्जी आ गई। उसे हस्पताल लाया गया। वहाँ जाकर वह मर गया । मस्तिष्क चीर कर देखने से ज्ञात हुआ कि उस का

छोटा-मस्तिष्क सारा खराव हो गया या श्रीर उस का कुछ-कुछ प्रभाव बड़े-दिमाग पर भी होने लगा था। सेरीज़ ने भी एक विषयी श्रादमी का उल्लेख किया है। वह एक दिन किसी वेश्या के घर में गया और उस के बाद दो दिन में मर गया। उस के दिमाग को चीरन से छोटे-मस्तिष्क में रक्त-संचय पाया गया। डा० गियोट ने एक ५२ वर्ष के विषयी युद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसे मस्तिष्क में रक्त-संचय के आक्रमण कई वार हुए, उस का शरीर हृष्ट-पुष्ट था इसलिये कुछ दिनों तक तो वह सत्र नदीश्त करता रहा परन्तु अन्त में पागल हो गया । उसे की बीमारी जल्दी-जल्दी बढ़ने लगी, नीचे के हिस्से में अधीग हो गया श्रोर १२ वएटों में ही वह वेचारा चल वसा। डेलेन्डीज एक लडकी का उल्लेख करता है। वह वचपन में ही कुसंगति में पड़ .गई थी और अन्त में वेश्या वन गई । उस के गुह्यांगों में इतनी जलन होती थी कि सूजन उत्पन्न हो गई। उस का कुछ इलोज भी न हो सका। श्रन्त में मृत्यु ने उस का इस दुःख से निस्तार किया। दिमाग चीरने से देखा गया कि उस का छोटा-मस्तिष्क रुधिर-शून्य होने के कारण स्पर्श में कठोर हो गया था। इसी लेखक न एक २० वर्ष के युवक का उल्लेख किया है। वह छुटंपन से ही हस्त-मैथुन का शिकार हो गंया या । सत्र उपाय कर लियें गये थे परन्तु उस की यह आदत छूटती ही नथी। उसे कभी-कभी मृगी का दौर होता था। वह एक हस्पताल में भर्ती हो गया। इस समय उस का वीर्यनाश होना बन्द न हुआ। अन्त में तीन

महीने के बाद वह विल्कुल सूख कर मर गया । चीरने पर उस के छोटे-दिमाग में एक गाँठ पायी गई। एक दस वर्ष की लड़की जिसे हस्त-मैयून की लत पड़ गई थी एकान्त-प्रिय तया दु: खित-सी रहा करती थी । चार महीने तक उस के सिर-दर्द होता रहा जो कि अन्त में इतना बढ़ा कि वह तीन हफ्ते तक लगातार दिन-रात रोती रही और अन्त में मर गई। मरने से पहले उसे ह्स्मताल पहुँचाया गया । डाक्टर लोग पूछ-ताछ करने पर केवल इतना जान सके कि वह १२ दिन तक विस्तर में ही पड़ी रही शी, बार-बार उसे पित्त की कय ब्राती थी, हर समय ऊँमती रहंती थी, चारों तरफ़ के लोगों का उसे कुछ ख्याल तक न रहंता शा ! उस का सिर हर समय नीचे लटका रहता था, भ्रीर हाय सिर पर पड़े रहते थे। मरने से चार दिन पहले वह प्रगाद निद्रा में सो रही थी, प्रकाश का उसे कुछ ज्ञानन था, कभी-कभी आँखें शोड़ी-सी खोल देती थी । उस का छोटा-मस्तिष्क चीर कर देखा गया तो ऊपरला हिस्सातो सारे-का-सारा सङ्ग्रह से भरा हुआ था त्रीर वाकी हिस्सा भी कुछ-कुछ गल-सा गया था। कोम्बेट ने एक ११ वर्ष की लड़की का उल्लेख किया है। उसे भी यही लंत थी और इसी के कारण उस का छोटा-मिन्तिष्क विलक्कल संड-गल गया था । जो हिस्सा पूरा नहीं गला या वहाँ लिसलिसी भिल्ली अभी शेष थी।"

ऊपर जिन शल्य-तन्त्र सम्बन्धी दृष्टान्तों का उल्लेख किया गया है उन से स्पष्ट है कि ऐसी कठोर काम-क्रिया का,

जैसी कि हस्त-मैथुन में पायी जाती है, मस्तिष्क तया स्नायु-मएडल पर सीधा श्रसर पड़ता है। जो हस्त-मैशुन से वीर्य-नाश करता है उसे समभ रखना चाहिये कि वह अपने मस्तिष्क के तत्व को वहा रहा है श्रीर इसीलिये जिस यह लत पड़ जाती है वह बुद्यू-सा प्रतीत होने लगता है, उसे मृगी तया इसी प्रकार के श्रन्य मानसिक रोग घेर लेते हैं। उस के जीवन का रस सूख जाता है, उस की हाँसी में भी श्राखाभाविकता श्रा जाती है। हर समय सिर नीचा किये काल्पनिक अपार दुःख सागर में गोते खाते रहने की उसे वीमारी-सी हो जाती है। इस से वचने के लिये वह नाच-रंग में जाने लगता है। शराव की श्रादत भी जल्दी ही पड़ जाती है क्योंकि इस के कुछ देर के नशे में तो वह अपने दुः खों को डुवो सकता है ! इस प्रकार उस के सर्वनाश के लिये राजपय खुल जाता है। दुःखों की गठरी को वह शरात्र में डुवोता है श्रोर शराव से गठरी का भार श्रीर वढ़ जाता है-वस, एक सनातन चक्र चल पड़ता है। रूह हर चक्त मरी रहती है, निराशा छाई रहती है, -इस लत के शिकार को श्राशा की कोई किरण ही नहीं दिखाई देती | चिन्ता उस के मस्तिष्क पर श्रापनी छाप लगा देती है। श्रात्मिक शान्ति, शायद सदा के लिये, उसे अलिदा कह देती है। लड़के, जो अपनी कचा में आगे रहा करते थे, पिछड़ने लगते हैं। सायी लोग आधर्य करते हैं, श्रध्यापक परेशान हो जाते हैं, माता-पिता कुछ समम नहीं सकते, पर जिस ने शारीर-शास्त्र का अध्ययन किया है उसे कोई

श्रचम्भा नहीं होता क्योंकि वह सब वातों से वाकिफ़ होता है। विद्यार्थी के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने ध्यान को केन्द्रित कर सके, यही तो स्मृति-शक्ति है। बुरी राह पर पड़ा हुआ लड़का ध्यान को भी केन्द्रित नहीं कर सकता । यही तो कारण है, इतने लड़के स्कूलों में दाख़िल होते हैं पर दसवीं श्रेणी तक पहुँचते-पहुँचते वहुत थोड़े रह जाते हैं । गन्दी त्रादतें उन्हें त्रागे कदम नहीं रखने देतीं, पीछे खींच लेती हैं । लड़का कितान लेकर पढने बैठता है पर संकल्प-विकल्पों के ताने-वाने से बनी गन्दी-गन्दी तस्वीरें उस के मानिसक नेत्रों के सन्मुख उठने लगती हैं । श्रीर फिर,--श्रोह ! फिर कहाँ पुस्तक, कहाँ पाठ, कहाँ क्षास और कहाँ अध्यापक—इस १४-१५ वर्ष की उम्र में प्रायः सत्र लड़कों में स्कूल छोड़ कर भाग खड़े होने की प्रवल श्रंभिलापा उठ खड़ी होती है। वाज़ारों में जाकर देखो, गली में कितने सिर दरिया की लहरों की तरह ऊपर-नीचे उठते हुए नज़र आते हैं ! इन में से तीन-चौथाई लड़के स्कूलों में दाखिल हुए थे, परन्तु जवानी की उसी अन्धी उमंग में ये सब स्कूल बोड़ बैठे थे !

जैसा किसी पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है, छोटा-मस्तिष्क ही कामुकता तथा शारीरिक गतियों को नियन्त्रित करने का केन्द्र है। क्योंकि कामी आदमी विषय में अधिक प्रवृत्त होता है अतः उस का छोटा-मस्तिष्क शीध ही थक जाता है। परिणाम यह होता है कि उस के जोड़ों में दुई होने लगता है और वह चलने में लड़खड़ाता है। उस की सभी ज्ञानेन्द्रियों की राक्तियाँ जीए हो जाती हैं। बुद्यू तथा मृगी का मारा वह समान पर और पृथिवी पर भार हो जाता है। ऐसे ज्ञाए भी आते हैं जब वह अपने लिये ही अपने को बोभ समभने लगता है और किसी निराशा के आवेश में आकर अपने-ही हाथों अपना काम तमाम कर बठता है।

'इन्द्रिय-निग्रह' के अभाव का परिणाम बुरा होता है। रीड़ में दर्द रहता है, गठिया सताने लगता है। अर्थीग-रोग स्नायु-सम्बन्धी ही तो बीमारी है और यह अति-मैश्चन तथा अनेसर्गिक-मेश्चन से हो जाती है। वीर्यनाश से मस्तिष्क खोखला होने लगता है, रात को नींद्र नहीं आती और इसी प्रकार की स्नायवीय बीमारियाँ शरीर में सदा के लिये घर कर लेती हैं।

चात्मिक परिणाम

गन्दे विचारों को अपने अन्दर नगह देने से मनुष्य की आत्मा को मानो घाव लग जाता है। अन्तरात्मा, जो उन्मार्ग होत हुए व्यक्ति को भटकने से बचाने के लिये दैवीय-वाणी का काम कर सकती थी, मर जाती है। डा॰ स्टॉल ने अपनी पुस्तक 'वट ए यंग वॉय औट टु नो' में इसी भाव को बड़े सुन्दर शब्दों में यूँ राता है:—"हम में से बहुतों की अन्तरात्मा की आवाज़ बहरे कानों पर पड़ती है, व उस की चेतावनी से मुँह फेर लेते हैं। अन्त में समय आता है जब कि आत्मा की आवाज़ उन्हें

सुनाई ही, नहीं पड़ती। यह घटना वैसी ही है जैसे कोई ५ अजे प्रातःकाल उठने के लिये घड़ी की सुई ठीक कर के रखे। पहले दिन प्रातःकाल वह चौंका देगी, श्रीर यदि वह ठीक उसी समय उठ कर कपड़े पहनना शुरू कर दे तो प्रतिदिन प्रातःकाल जब घएटी बजेगी वह उठ खड़ा होगा। परन्तु यदि पहले दिन ही घड़ी की श्रावाज़ सुन कर उठने के वदले वह चारंपाई पर पड़े-पड़े सोचने लगे-(एक मिन्ट और सो लूँ), और यह सोच कर फिर लेट जाए, और जब तक उसे कोई न उठाये तब तक सोता रहे तो अगले दिन घराटी वजने पर वह शायद जाग तो जाएगा, परन्तु अब तो-'एक मिन्ट श्रौर सो लूँ'—सोचने की भी तकलीफ नहीं करेगा श्रौर सोता ही रहेगा। यदि साने का यही सिलसिला जारी रहा तो दो-तीन दिन के नाद घड़ी नजती ही रहा करेगी श्रीर वह उस की त्रावाज तक न सुन सकेगा, मज़े में खुरीटे भरता रहेगा। मनुष्य के अन्तरात्मा का भी यही हाल है। यदि हम शुरु से ही उस की सलाह को मानते रहें तब तो सब-कुछ ठीक रहता है, परन्तु यदि उस की चेतावनी पर हम कान न दें तो धीरे-धीरे उस की श्रावाज़ ही सुनाई पड़नी वन्द हो जाती है। इसलिये नहीं कि अन्तरात्मा की चेतावनी बन्द हो जाती है-यएटी बजनी भी तो वन्द नहीं होती—लेकिन क्योंकि हम उस की तरफ़ से असावधान है। गये इसलिये हम खुले तौर पर इस प्रकार का पापमय जीवन व्यतीत करने लगते हैं मानो हमारी अन्तरात्मा है ही नहीं !"

काम-वासना की अनेसर्गिक तृप्ति के ठीक बाद हृदय में टमइता हुआ लजा और आत्म-न्लानि का समुद्र अन्तरात्मा की ही निरोध-सुनक चेष्टा है। प्रारम्भ में यह वड़ी प्रवल होती है, मानो बुराई से गुद्ध कर रही होती है। परन्तु फिर,—'केवल एक वार'--'फेवल इस वार'-के पाशविक भाव का मुकाविला कोन करे ? मतुप्य का श्रवः पतन प्रारम्भ हो जाता है, यहाँ तक कि श्रात्मिक-नल सर्त्रया लुप्त हो जाता है। फिर वह पर्वा नहीं करता। उत समय वह जो-जो कुछ कर वेठता है उस के सामने हस्त-मेशुन भी साधारण्-सी बात जान पड़ती है। श्रात्मा सर्वया सो जाता है। उस का जीवन वासनामय हा जाता है, ऊँचा उड़ने की खरी-खरी भावनाएँ सत्र कुचली जाती हैं। ज़िन्दगी एक परेशानी की चीज बन जाती है। ऐसे ही जाएँ। में वे घृषित पाप हो जाते हैं जिन की बदबू से अदालतें भरी रहती हैं। जीवन के बोमा को श्रपने कन्यों पर उठाये, कुचेप्टाश्रों का दास, लजा श्रीर धर्म को ताक में रख, उस दिन की यड़ियाँ गिनने लगता है जिस दिन पृथित्री उस के बोमा से हल्की हो जायगी !

कुचेप्टाओं में मनुष्य कैसे फँस जाता है इस बात पर विचार किया जाय तो पता लगेगा कि ऐसे व्यक्ति में 'इन्द्रिय-निग्रह' तया 'श्रात्म-विश्वास' का कृतरा तक नहीं रह जाता। श्रादत की वेडियों से बँघ कर वह उन्हीं का गुलाम हो जाता है। जिस मनुष्य की इच्छा-राक्ति प्रवल होती है उस के मुख से—'केवल एक वार'—'वस, एक मिन्ट के लिये'—'श्राखीरी वार'—ये राज्द

निकलते ही नहीं। जिस के हृद्य में ये शब्द उठते हैं उसे समम रखना चाहिये कि 'केवल एक वार' कई वार दोहराया जायगा ; 'वस, एक मिन्ट' कई घएटों के लिये होगा और 'आख़ीरी वार' पतन की पहली वार होगी! आदत एक पिशाचिनी है जो मनुष्य की सन्तान को मार्ग-अष्ट करने के लिये इन प्रलोभनों की रचना किया करती है। कुचेष्टाओं में पड़ा हुआ व्यक्ति अपनी आत्मा की आवाज़ की भी पर्वा न करता हुआ अपने पैरों अपने-आप कुल्हाड़ी मार बैठता है, इसीलिये उस की इच्छा-शक्ति स्त के कच्चे धागे की तरह ज़रा-सा बोम पड़ने पर फ़ौरन टूट जाती है, उसमें कुछ बल नहीं रहता। आत्मिक-पतन की यह नरम-सीमा है।

चि कि त्सा

ब्रह्मचर्य-पूर्वक शुद्ध तया पित्र जीवन न्यतीत करने के विषय में विस्तार-पूर्वक अगले एक अध्याय में लिखा जायगा। यहाँ पर आत्म-न्यभिचार से होने वाले भौतिक तथा मानसिक दुष्पिरिणामों से वचने के उपायों पर ही संज्ञिप्त विवेचन करना है। सब से पहली बात यह है कि कुचेष्टा के कारण को समम्म लेने में उस की चिकित्सा स्वयँ आ जाती है। कारण को हटा दो, कार्य स्वयँ हट जायगा—कुचेष्टा के कारणों को भी हटा दो, उस से होने वाले दुष्परिणाम स्वयँ हट जायगे। इस सम्बन्ध में सब के लिये किन्हीं निश्चित बन्धे हुए नियमों का उल्लेख नहीं किया जा सकता। प्रत्येक न्यक्ति की अपनी-अपनी कठिनता

होती है, सब के अपने-अपने सवाल होते हैं, और उन के अलग-थलग ही हल होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अवस्था देख कर, उस की शिकायत के कारणों पर विचार कर के उन कारणों को दूर करना चाहिये। यहाँ पर सर्व-साधारण के उपयोगी केवल सामान्य-निर्देश ही दिये जा सकते हैं।

कुचेष्टा के भौतिक-कारणों से उत्पन्न होने वाले उपदव विशेष दुःख पहुँचाते हैं । श्रौर जब वे उपद्रव बढ़ जाते हैं तब यह ख्याल श्राता है कि यदि माता-पिता, गुरु, सम्बन्धी सावधान रहते तो इन दुःखों से बचा मा सकता था। यदि बालकों को प्रारम्भ में ही इन विषयों से जान-जूभ कर अनभिज्ञ रखने का प्रयत्न माता-पिता की थोर से न होता तो शायद उन की जीवन नोंका वच नाती। जैसा इन पृष्ठों में जगह-जगह लिखा ना चुका है, माता-पिता ही, दुर्भाग्यवश, श्रपनी सन्तान के सर्वनाश के कारण वनते हैं । उन्हें मालूम होना चाहिये था कि श्रविवा-हित जीवन की कठिनाऱ्याँ विवाहित जीवन से किसी प्रकार कम नहीं हैं । उन्हें अपने विद्यार्थी-जीवन के वैय्यक्तिक अनुभवों से यह ज़ात होना चाहिये था कि उन का वालक भी इन वार्तों से किसी प्रकार श्रनभिज्ञ न रह सकेगा । उसे मालूम तो सभी कुछ हो जायगा । हाँ, इन रहस्यों को माता-पिता तया गुरुओं से न जान कर वह अपने सायियों की अन्छील तथा गन्दी मख़ौलों से और श्रपने माता-पिता के नौकरों-चाकरों की गप्पों से सीख जायगा। फिर लड़का जिस रास्ते पर चल पहेगा उस की ज़िम्मेवारी, श्ररे

माता-पितात्रो ! तुम्हें छोड़ कर किस पर होगी ? याद रखो, परमात्मा के द्रवार में तुम पर अपनी सन्तान की हत्या करने का अभियोग चलेगा ! इस में सन्देह नहीं कि माता-पिता के पाप सन्तान को भोगने पड़ते हैं; परन्तु इस में भी तो सन्देह नहीं कि अनेक मूर्ष पिता इस दर्द को दिल में लेकर ही मरते हैं कि उन्हीं की असावधानी से उन की सन्तान का सत्यानास हो गया, और उन की आँखें तज खुलीं जब मामला उन के काबू से निकल गया और ने हाय मलतं रह गये ! इस समय तक श्रॅंथ्रेनी में श्रनेक पुस्तकें निकल चुकी हैं जिन के श्राधार पर माता-पिता श्रपनी सन्तान के सन्मुख इन वांतों को अञ्छी तरह रख सकते हैं। माता-पिता तया अध्यापकों को इस तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये । हमारे समाज में इस विषय पर बाहर-बाहर की चुप्पी का जो दूपित वातावरण वना हुआ है उस से अन्दर-अन्दर कुचेष्टाओं की भयंकर आग सुलग रही है जिसे बुक्ताना कठिन जान पड़ रहा है।

ये आदतें ऐसी हैं जो यदि एक वार जड़ पकड़ गई तो इन का उखाड़ना कठिन हो जाता है। फिर भी किसी बुरे काम से जब भी पीछे कदम हटा लिया जाय तभी अच्छा है। जिसे बुरी आदत पड़ ही गई है उसे निम्न-लिखित नियमों से अपने जीवन को नियन्त्रित कर लेना चाहिये:—

(१) मोजन शुद्ध तया सात्विक हो। मैदे की जगह मोटे आटे का इस्तिमाल हो। मिर्च, मसाले, मिटाई, खटाई आदि को छोड़ दिया जाय। फलों तया दूध का प्रयोग ज्यादह हो।

- (२) चाय, काफ़ी, पान, तम्त्राकू, सिगरट, भाँग, शराब श्रादि नशीले पदार्थों का सेवन कर्ताई न किया जाय । उत्तेजक पंदार्थों के सेवन की त्रावश्यकता युवक को न होनी चाहिये श्रीर यह स्मरण रखना चाहिये कि सब से अच्छा सात्विक उत्तेनक 'ब्रह्मचर्च्य' ही है। इस से शरीर में नो शक्ति श्राती है वह चाय पी-पी कर नहीं लायी जा सकती । इस की शक्ति टिकने वाली है, और चाय से ऋायी शक्ति तभी तक है जब तक पेट में चाय.की गर्मी रहती है।
- (३) जननेन्द्रिय को पर-ब्रह्म की उत्पादक-शक्ति का चिन्ह-मात्र समभाना चाहिये । उस की तरफ़ ध्यान नाते ही देवीय भाव का उदय होना चाहिये । इन्द्रिय-स्पर्श कभी न करना चाहिये । ऐसे कामं की तरफ़ भूल कर भी ध्यान नहीं ले जाना चाहिये निसे खुले में करते हुए हृदय में पाप की, लज्जा तथा भय की आरंका होती हो । ऐसा कार्य सदा पापमय होता है । यही तो पाप की पहचान है !
- (४) जननेन्द्रिय के अगले हिस्से को, धीरे से, उस की उपरली त्वचा पीछे हटा कर, शुद्ध भाव से, प्रतिदिन घोना एक धार्मिक कृत्य के तौर से करना चाहिये। इस समय हृदय में परमात्मा की मातृ-शक्ति का ध्यान रहना चाहियें । यह सफ़ाई ठीक ऐसी ही करनी चाहिये जैसे कान, नाक आदि की सफ़ाई। यदि उपरली त्वचा बहुत तंग हो या बहुत लम्बी हो तो डाक्टर से सलाह कर के उसे कटवा डाल्ना चाहिये। यदि ठीक सफ़ाई न

कर सकने के कारण इस त्वचा के नीचे, शिश्न-मुगड पर, जड़म-से हो जायँ, सूजन या खाज होने लगे, तो डरना नहीं चाहिये। जिस ने अपने को दूषित नहीं किया उसे बीमारी ऐसे-ही नहीं आ चिपटती। छोटे वालक जिन्हों ने समाचार पत्रों के इश्तिहारों में सुज़ाक आदि भयंकर रोगों का नाम पढ़ लिया होता है ज़रा-सी खुजली से डर जाते हैं। इसीलिये इस अंग की सफ़ाई ज़रूरी है। यदि कभी साफ़ न रहने से जलन-सी होने लगे तो निम्न-औपघ का प्रयोग करना चाहिये, शिकायत शीघ दूर हो जायगी:—

- i. श्रंग्रेज़ी द्वाः डस्टिंग पाउडर का उपयोग करना ; श्रयवा घोकर वोरिक श्रायन्टमेन्ट लगाना । वोरिक श्रायन्टमेन्ट किसी भी डाक्टर से मिल सकती है ।
- ii, देसी द्वाः—त्रिफला के पानी से अंग को घोकर विफला की मरहम बना कर लगाना। यह मरहम त्रिफला को जला कर उस की राख को घी या वैज़्लीन में मिलाने से आसानी से बन जाती है।
- (५) उक्त चार वार्तों के साथ दैनिक-चर्या को भी नियमित रखना चाहिये। इस का महत्व जितना हमारे पूर्वजों ने समभा था उतना आजकल नहीं समभा जाता। जल्दी उठना, जल्दी सोना, सोते हुए मुँह न ढँकना, शौच नियमित रूप से जाना, पेट साफ़ रखना, दातुन करना, ज्यायाम, प्राणायाम, स्नान तथा सन्ध्या आदि वार्ते साधारण मालूम पड़ती हैं परन्तु ब्रह्मचर्य-रक्ता पर इन का कम असर नहीं पड़ता।

ब्रह्मचर्य्य-साधना के लिये ये वाह्य-साधन अपेन्नित हैं। परन्तु इन साधनों के अतिरिक्त आभ्यन्तर साधनों की भी आवश्यकता है। इस बात को कभी न भूलना चाहिये कि कुचेष्टा-चाहे वह अपनी 'इच्छा' के कितनी ही विरुद्ध क्यों न हो-श्रपनी 'इच्छा' के विना नहीं हो सकती । शरीर तो मन की 'इच्छा' का ही पालन करता है ; कुचेष्टा में प्रवृत्त व्यक्ति की 'इच्छा' के ही दो टुकड़े हो चुके होते हैं। उस की इच्छा 'एक' नहीं रहती। इसीलिये किसी भी बुरी लत को दूर करने के लिये, श्रौर ख़ास कर कुचेष्टा को हटाने के लिये, 'इच्छा-शक्ति' का दढ़ करना ज़रूरी है। अपनी इच्छा को 'एक'-अविभक्त बनाओ ! उसे सशक्तं वनात्रो ! जिंस कृाम को तुम अच्छा समभाे, वह कितना ही कठिन क्यों न हो, उसे कर दिखाओ ! जब तक संकल्प-शक्ति श्रोर प्रतिरोध-शक्ति का संचय न किया जाय तव तक किसी भी बुराई को जीतना ग्रसम्भव है, कुचेष्टात्रों के लोह-मय पञ्जे से छुटकारा पाना तो अत्यन्त असंभव है। पीठ सीधी कर के, गरदन तान कर, इन्सान वन कर रही ! शतान के प्रलोभनों को पाँवों से ठुकराना सीखो ! श्राँखें ताने रहो ! कमर को सुकने मत दो ! —फिर देखो, कुचेष्टार्थो का भूत तुम्हारे सन्मुख कैसे उहरता है ? तुम पीछे से पछताते हो, इस का कारण तो तुम्हारी ही भूल है। कुचेष्टाओं का शिकार तो बनता ही कमज़ोर 'इच्छा-शक्ति' का श्रादमी है । संकल्प-शक्ति को दृढ़ बनाने का श्रभ्यास करो । इस विषय पर जो साहित्य मिले उस का अध्ययन करो । प्रो॰

जेम्स ने अपनी पुस्तक 'पिन्सिपलस ऑफ़ साइकोलोजी' में 'श्रादत' पर एक बहुत अच्छा अध्याय लिखा है, उसे पढ़ों । उसे पढ़ने से समम आ जायगा कि मनुष्य के खायु-चक्र का 'इच्छा-शक्ति' को बनाने तथा बढ़ाने में कितना बड़ा हिस्सा है । उस अध्याय में दिये गये निदेश कियात्मिक तथा उपयोगी हैं अतः उन का संनेप में साराँश नीचे दिया जाता है, जो विस्तार से पढ़ना चाहें वे उसी पुस्तक को पढ़ें।

१. पहला नियम:—िकसी भी श्रादत को नये सिरे से बनान, श्रायवा प्रड़ी हुई को छोड़ने, का पहला सिद्धान्त यह है कि उस का प्रारम्भ बड़े ज़ोरों से—सारी इच्छा-राक्ति के ज़ोर से—करे। पहले तो संकल्प करने में मन का पूरा बल लगा दे, कोई मीन-मेख न रखे। फिर उस संकल्प को सफलता-पूर्व निमाने में जितने भी उपायों का श्रवलम्बन किया जा सकता है सब का सहारा ले। यदि कोई बुराई प्रतीत न हो तो बेशक सब के सामने प्रतिज्ञा करे, श्रोर निम्न-प्रकार से धीरे-धीरे, परन्तु पूरे ज़ोर से, अपनी श्रात्मा को लन्त्य में रख कर श्रपने को ही निदंश करे:—

मैं इस नुरी त्रादत को छोड़ रहा हूँ, हाँ—हाँ, छोड़ रहा हूँ, विलक्कल छोड़ रहा हूँ; वह देखों, यह छूट रही है, त्रा—हा ! यह तो वहुत-सी छूट ही गई है; छूट गई—विलक्कल छूट गई, अब यह न त्रा-य-गी, त्रा ही न स-के-गी!! इन शब्दों को दोहराने में मन की सारी संकल्प-शक्ति लग जानी चाहिये। शान्त-एकान्त स्थान में, नीरवता की गम्भीरता में, सायँकाल सोने से पूर्व और प्रातः काल सोकर उउते ही इन शब्दों को बार २ दोहराये। ये साधारण शब्द नहीं, जादू भरे शब्द हैं, और इन का असर किसी मन्त्र से कम नहीं। रात्रि को दोहराये गये ये वाक्य रातभर आत्मा में शक्ति भरते रहेंगे और प्रातः-काल के दोहराने से शक्ति का द्विगुणित केम पाकर कुचेष्टा के दुकड़े-दुकड़े कर देंगे। पहले जैसे प्रलोभन से बचना असम्भव था वैसे अब उस से गिरना असम्भव हो जायगा! याद रखो, गिरावट से बचने के लिये रखा हुआ एक-एक कदम उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ाया हुआ कदम है!

२. दूसरा नियमः — जन तक नई आदत पूरी तरह से तुम्हारे जीवन में अपना स्थान न बना ले तन तक एक च्रण के लिये भी उस में अपनाद न होने दो। युद्ध में छोटी-सी भी विजय आगे आने वाली वड़ी विजय में सहायक होती है, इसी प्रकार छोटी-सी पराजय मी और पराजयों की तरफ़ ले जाती है। शुरु-शुरु में ढील करना अपने को तनाह कर लेना है। पराजय के पच्च का जरा भी समर्थन हुआ तो जय के पच्च को ही ठेस पहुँचेगी। 'एक वार और' — एक ऐसा कुल्हाड़ा है जो 'इच्छा-शक्ति' के वृच्च को जड़ों से काट डालता है। एक वार 'न' कह दिया, और सोच-समस्त कर कह दिया, तो उसे 'हाँ' में तनदील कराना किसी के लिये भी असम्भव हो जाना चाहिये। जो कुछ

एक वार संकल्प कर लो, जन तक उसे आदत न बना लो तन तक डटे रहो, उस में ज़रा-सी भी दील न आने दो । अन्त तक अपवाद न आने पाये, यही नियम बना लो ।

- ३. तीसरा नियमः जिस संकल्प को करो उसे किया
 में लाने का जो भी मौका मिले उसी को पकड़ लो। मौका
 यदि हाथ से निकला तो सदा के लिये ही निकला समभो। समय
 लौट-लौट कर नहीं श्राता। यदि श्रभी से हल लेकर जुत जाश्रोगे
 तो जल्दी-ही तुम्हारी खेती भी हरी-भरी हो जायगी। जो मौके
 एक वार हाथ से निकल जाते हैं वे दूर जाकर श्रादमी को
 तरसाते ही रहते हैं। उन्हें देख-देख कर तकदीर को कोसता
 हुश्रा श्रभागा श्रादमी चिछाता है, 'यदि ये मौका मुभे एक वार
 फिर मिल जाय!' परन्तु शोक कि वह मौका फिर हाय
 नहीं श्राता!!
- ४. चौथा नियमः जो आदत डालना चाहते हो उस के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ काम प्रतिदिन विना ज़रूरत के भी करते रहो । अर्थात् , कुछ न करने की अपेक्षा रोज़ छोटे-छोटे कामों में भी अपने में धीरता, वीरता आदि गुणों को उत्पन्न करो । जब परीचा का अवसर आयगा तो तुम एकदम नौसिखिये की तरह धनरा न जाओगे । यह एक तरह का बीमा कराना है । जो आदमी अपने घर का बीमा करा लेता है उसे तात्कालिक कुछ फ़ायदा नहीं होता, अपने पछे से देना ही पड़ता है । यह भी सम्भव है कि उस का फ़ायदा उठाने का अन्त तक उसे

अवसर ही न मिले ! परन्तु यदि किसी दिन घर की आग लग जाय तो वीमे के लिये ख़र्च करने के कारण उस का सत्यानास होने से भी तो वच जाय ! इसी प्रकार जो व्यक्ति प्रतिदिन धीरता, वीरता, त्याग, ध्यान तथा संकल्प का कोई-न-कोई कार्य विना ज़रूरत के भी करता रहता है वह मानो अपनी मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों का वीमा कराता है । यदि कभी कोई आपित्त आ पड़ेगी तो नहाँ गदेलों में लोटने वाले गदेलों के साय हवा में फूस की तरह उड़ जायँगे, वहाँ प्रतिदिन आत्मा की साधना में लगे रहने वाले चट्टान की तरह अचल खड़े रहेंगे।

संकल्प-राक्ति को बढ़ाने के साथ-साथ अपने मन के पढ़ों को खोल-खोल कर उन की परख भी करनी चाहिये। सोचो, तुम्हारी शिकायत का कारण क्या है ?—कहीं 'कुत्सित-संकल्पों' से तो तुम्हारा नाश नहीं हो रहा ?—कहीं तुम अकेले बेठे-बेठे तो मन के बोड़े को नहीं दोड़ाया करतं ?—कहीं मानसिक-चित्रपट पर कल्पना की रेखाओं से ऐसे चित्र तो नहीं बनाते रहते जिन से मिलती-जुलती ठोस वस्तु इस दुनियाँ में हूँदने से भी नहीं मिलती ? यदि ऐसा है तो अब 'बस' कर दो। एकान्त में बेठना छोड़ दो। याद रखो, दो तरह के आदमियों को समाज से डर लगता है। या महात्माओं को, या पापियों को। यदि तुम एक नहीं हो तो दूसरे होगे! ये 'कुत्सित-संकल्प' तुम्हारा सर्वनाश कर के छोड़ेंगे। ये तुम्हारे हृदय में उन-उन चित्रों की रचना करेंगे जो मनुष्यों के संसार में दिखाई नहीं देते।—कहीं उपन्यास पढ़ते-पढ़ते तो तुम्हारा

मानसिक-चितिन धुँभला नहीं हो गया ? यदि ऐसा है तो इन्हें जुमीन पर पटक दो, ऐसी पुस्तकें पढ़ो जिन से तुम्हारे पहें कुछ पड़े। जिस मनुष्य का मन पवित्र है, जिस में 'कुत्सित-संकल्पों' की बाढ़ नहीं त्रायी वह कुचेष्टाक्यों में भी नहीं पड़ता। अञ्जी पुस्तर्के पढ़ो । यदि तुम अभी छोटे हो तो अपने नड़े भाई से या अध्यापक से पूछ कर ही किसी पुस्तक को हाय लगात्रों; यदि तुम समम्मदार हो तो अपने छोटे भाई के हाथ में कोई गन्दी किताव न आने दो। आपेलाने बढ़ रहे हैं, किताबों के भी ढेर-के-डेर निकल रहे हैं। लोग कमाने के लिये सब-कुछ वेतहाशा लिख रहे हैं, इसलिये यदि दो अन्तर सील गये हो तो संभले भी रहो। बुरे साथियों का संग झेड़ दो। त्राग लगे उस दोस्त की दोस्ती को जिस का उद्देश्य तुम्हारा शिकार खेलने के सिवाय कुछ नहीं है । साथ-ही 'निडल्ले' मत बैडो । निडल्लेपन के चखें से ही तो क्रित्तित-संकर्णों का सूत काता नाता है। काम में लगे रहो, क्योंकि खाली-दिमाग शैतान का घर होता है। मन को बन्दर की तरह हर समय कुछ-न-कुछ करने को मिलना चाहिये। काम को बदल देना ही मन का आराम है। काम को छोड़ देने से तो यह तत्राही मचा देता है। ठाली मत बैठो। मन में पवित्र विचार और पवित्र संकल्प भर दो ; फिर, शर्तिया कहा जा सकता है कि तुम र्कुचेष्टा में कभी न पड़ोगे । तुम्हारे पास समय ही कहाँ होगा ? मन के लिये तीन चीज़ें ज़हर हैं। 'ठालीपन'; 'कुत्सित-संकल्प'; 'चिन्ता' । ठालीपन का मतलब है जब मन खाली हो; कुित्सत-संकल्प का मतलब है जब मन भरा हुआ हो-वद्बू से भरा हो। परन्तु मन ठाली तो रह ही नहीं सकता। मनुष्य ठाली हुआ नहीं श्रीर संकल्प-विकल्पों ने अपने साज-सामान के साथ डेरा डाला नहीं। चिन्ता—यह मन की तीम़री श्रवस्था है। इस में मन भरा होता है, परन्तु ख़ाली होना चाहता है, श्रीर ख़ाली होने का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता-वस, यह दुविधा की अवस्था ही चिन्ता है। चिन्ता से अनेक उच-श्रात्माओं का पतन हुआ है। चिन्ता-ग्रस्त व्यक्ति के लिये कुचेष्टाश्रों का शिकार हो जाना असाधारण बात नहीं है। शायद इस प्रकार वह अपने को थोड़ी देर के लिये चिन्ता के असीम वोक्त से मुक्त पाता है, परन्तु यह मुक्ति उस पर पहले से भी ज़्यादह आतम-म्लानि का नोम लाद देती है। 'ठालीपन', 'कुत्सित-संकल्प' तथा 'चिन्ता'—ये तीनों मानसिक पाप हैं। इन से मस्तिष्क की स्नायवीय शक्ति पर श्रायात पहुँचता है, मनुष्य के श्रखएड शक्ति-भएडार का हास होता है। इन तीनों के उपद्रवों से वचने के लिये 'संकल्प-शक्ति' का संचय करना ही सर्वोत्तम उपाय है।

श्राष्ट्रम श्राध्याय 'इ न्द्रिय - नि ग्रहः'

-300

[ख. पत्नी-व्यभिचार]

कृत्म पहले देख चुके हैं कि 'श्रमीना' की रचना में लिंग-भेद नहीं होता। उस के उत्पन्न होने तया बढ़ने में नर-तत्व तथा मादा-तत्व कारण नहीं होते । उसी के टुकड़े होते जाते हैं श्रीर नये श्रमीत्रा पैदा होते जाते हैं। एक ही श्रनेक हो जाता है। श्रोर क्योंकि एक ही अनेक होता है, उस में नवीन तत्व का समावेश नहीं होता, इसलिय उस में कोई परिवर्तन भी नहीं त्राता । अमीना मरता भी नहीं, भागों में विभक्त हो जाता है । विभजन-किया से यह सृष्टि के अन्त तक जीता रहेगा । अमीवा की इस प्रकार की उत्पत्ति को एक-लिंगी-उत्पत्ति (ए-सेचुत्रल जनरेशन) कह सकते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ से अव तक यदि प्रकृति एक-लिंगी-उत्पत्ति द्वारा ही कार्य करती तो प्राणियों की रचना में परिवर्तन तथा उन्नति दोनों न दिखाई देते । इसलिये शरीर-रचना में विविधता उत्पन्न करने के लिये प्रकृति ने अपने पुराने तरीके को बदल कर नये तरीके से काम लेना शुरु किया। यह तरीका लिंग-भेद का है। इस में द्वि-लिंगी-उत्पत्ति (से सुत्रक या वाई-पेरेन्टल जनरेशन) होती है। प्राणि-रचना में नर-तत्व तथा मादा-तत्व दोनों काम करते हैं श्रोर श्रमीश्रा की तरह मूल-तत्व का श्राधा-श्राधा हिस्सा श्रलग होकर ही काम नहीं चल जाता । दो भिन्न-भिन्न तत्वों का संयोग होता है, श्रोर क्योंकि वे तत्व भिन्न-भिन्न हैं इसलिये उन के मिलने से श्रनेक नवीन गुणों के प्रादुर्भृत होने की सम्भावना बनी रहती है । जिन भिन्न-भिन्न शरीरों में ये दोनों तत्व उत्पन्न होते हैं वे तो श्रपनी श्रायु भुगत कर नष्ट हो ही जाते हैं परन्तु उन के गुण इन दोनों तत्वों— शुक्त-कण तया रजःकण—द्वारा श्रमर हो जाते हैं।

शुक्त-कण तथा रजः कण के संयोग में जो नियम काम कर रहे हैं वही मनुष्य-शरीर में काम कर रहे हैं । दो मूल-उत्पादक-तत्व तो 'पुरुप' तथा 'स्त्री' हैं । इन तत्वों का संयोग 'विवाह' कहाता है । शुक्त-कण तथा रजःकण का जो पारस्परिक स्थाभाविक श्राकर्पण है वही मानव-जीवन में 'प्रेम' है । जिस प्रकार इन दोनों उत्पादक-तत्वों के संयोग से नव-जीवन प्रारम्भ होता है इसी प्रकार उम्पती के पारस्परिक प्रेम से ही 'गृहस्य' चलता है । इन दोनों परस्पर विरोधी तत्वों के मिलने से ही प्राणि-जीवन में नवीनता श्राती है, इसी प्रकार समान के संगठन में पुरुप तथा स्त्री दोनों के सहयोग से मानव-समान की 'उन्नति' हो सकती है ।

पुरुप स्त्री की तरफ़ खिनता है, स्त्री पुरुप की तरफ़ खिनती है। यह अनुभव विश्व-न्यापी है। इस में कुछ नुरा भी नहीं, यह सृष्टि का नियम ही है, इस के बिना सृष्टि ही नहीं चल सकती। इसीलिये शास्त्र ने विवाह की आज्ञा दी है।

विवाह एक वन्धन है परन्तु जब तक इस बन्धन में प्रेम के तन्तु अ्रोत-प्रोत हैं तब तक यह बन्धन भी मोज्ञ से बढ़ कर है। प्रेम एक त्राग है! भोले गृहस्यी नहीं सममते कि प्रेम की श्राग को किस प्रकार सुगलती रखा नाय। व पतंग की तरह दीप-शिला पर प्राण् न्यौद्धावर कर देना नानते हैं -- कविता के श्रयों में नहीं, किन्तु मोटे श्रयों में ! विवाह के बाद स्त्री-पुरुष दोनों कामाग्नि को प्रचराड कर उस में कूद पड़ते हैं। उन्हें पता नहीं होता कि प्रचएड लपटों के बाद श्राग शान्त हो जाती है, कुछ ही देर में राख का डेर लग जाता है। यह सच है कि स्त्री तया प्ररूप एक दूसरे के भूखे होते हैं परन्तु यह भी सच है कि भूला सदा ज्यादह ला जाता है। ज्यादह लांन वाले का मदा विगड़ जाता है, वह भूख लगने की द्वाइयाँ खाने लगता है। दवाइयों से नकली मूल नागती है, परन्तु नकली भूल से कौन कितने दिनों तक जी सकता है ? ज़्यादह खाने से कुछ दिनों में खाना ही मुश्किल हा जाता है। विषय-भोग में वह जाने वाले भी विषय-भोग के काम के नहीं रहते । भूख का सब से वड़ा शत्रु ज़्यादह लाना है ; प्रेम का सब से बड़ा शत्रु विषय में लिस हा जाना है। भूखे को सब से पहले ग्रास में जो त्रानन्द त्राता है वही नव-दम्पती को विषय में श्राता है; भूखे को ज्यादह खाकर अपचन हा जाता है, नया जोड़ा भी संयम तोड़ कर विषय में लिप्त है। जाने से ठएडा पड़ जाता है। एक दूसरे के प्रति तड़पते दिलों को लेकर योड़े ही दिनों में ठएडे है। जाने वाले स्त्री-पुरुपों की गण्ना ली जाय तो सहज समभ पड़ जाय कि प्रेम की विषय-भोग के साथ कितनी शत्रुता है!

विवाह रूपी रय को चलाने के लिये उस की धुरी में प्रेम रूपी तेल पड़ता रहना चाहिये, नहीं तो रगैंड पैदा हो जाती है, श्रोर यह गाड़ी रास्ते में ही खड़ी हो जाती है। मूर्ख दम्पती समभते हैं कि विपय-भोग से ही गृहस्य सुखी रह सकता है। उन्हें मालूम नहीं कि विषय-भोग प्रेम का भद्दे-से-भद्दा रूप है। अस्ली प्रेम आत्मा से सम्बन्ध रखता है; शारीरिक-प्रेम श्राज्यात्मिक-प्रेम की केवल छाया है, यह उस की वास्तविकता को नहीं पा सकता । जिस प्रकार का जीवन नवयुवक विवाह के बाद व्यतीत करते हैं वह तूफ़ान का जीवन होता है। इस तूफ़ान में उन्हें श्रागा-पीछा कुछ नहीं स्भाता ; तूफ़ान निकल जान पर साँस के लिये हवा का एक फोंका मिलना भी मुश्किल हो जाता है। शुक्त-शुक्त में मानो प्रेम उमड़ा पड़ता है ; बाद को प्रेम की एक वूँद भी नहीं वच रहती । वे कहने लगते हैं कि 'प्रेम' वस्तु ही ऐसी है । परन्तु यह उन की भूल है । डाक्टर लूयर एच. गुलिक महोद्य 'डायनेमिक श्रॉफ मैनहुड' नामक पुस्तक में लिखतें हैं:-- "यह विल्कुल सम्भव है कि एक पुरुप किसी स्त्री से विवाह करे श्रीर ज्यों-ज्यों समय वीतता जाय त्यों-त्यों उसे श्रनुभव हो कि उस की पत्नी पहले की अपेदाा कहीं अधिक श्राकर्पक होती जा रही है, कोमलता तथा सौन्दर्य में बढ़ती जा रही है, लता की तरह अपने प्रेम के तन्तुओं से उस के हृद्य

को चारों तरफ से त्राविधित करती ना रही है। उसे त्रातुभव होने लगता है कि स्त्री-पुरुष का शारीरिक आकर्षण यद्यंपि त्रावश्यक है तथापि वास्तविक प्रेम का श्राधार कोई ऊँची ही वस्तु है। उसे अपनी पत्नी की वातों में आनन्द आने लगता है ; उस का दृष्टि-विन्दु एक नवीन सौन्दर्य को उत्पन्न करं देता है। वह अपनी पत्नी के लिये कोई नई चीज़ लाता है-नई पुस्तक लाता है, या नया चित्र ही ले त्राता है— इन सन से उस के हृद्य में नो विचार पहले नहीं उठे थे वे उसे अपनी पतनी से सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता है क्योंकि पुरुष प्रत्येक वस्तु को पुरुष की तथा स्त्री, स्त्री की दृष्टि से देखती है। इस प्रकार दोनों का प्रेम वढ़ता चला जाता है। प्रेम के इस स्वरूप को समक्तने वाले थोड़े हैं-- वे विषय-भोग को ही प्रेम सममते हैं, परन्तु वास्तव में प्रेम संकुचित वस्तु नहीं है, वह रात्रि के पापमय एकान्त में ही नहीं परन्तु चौबीसों घएटे प्रकट हो सकता है श्रीर इसी प्रकार का प्रेम टिकने वाला भी होता है।"

पुरुष अपनी वेवकूफ़ी से सममता है कि स्त्री का सन्तोप काम-भाव से ही होता है। उसे मालूम नहीं कि स्त्री से बातचीत क्या करे, उस के साथ काम-चर्चा को छोड़ कर २४ घएटे किस तरह बिताये ? साथ ही हमारा समाज इतना गन्दा है कि प्रत्येक पुरुष के दिमाग़ में भर दिया जाता है कि स्त्री का सन्तोप काम-भाव से ही हो सकता है। स्त्री के विषय में ये गन्दे विचार इतना घर कर गये हैं कि गृहस्यी आवश्यकता ही नहीं सममता

कि अपनी स्त्री की इच्छा को भी जाने । गृहस्थियों पर काम का भूत इतना सवार नहीं रहता जितना इन विचारों का भूत । काम से प्रेरित हो कर नहीं, परन्तु इन विचारों से प्रेरित होकर गिरने वालों की सँख्या कहीं अधिक है। प्रत्येक गृहस्थी को स्मरण रखना चाहिये कि विषय-वासना स्त्री में सदा नहीं होती, वह कभी ही उटती है। स्त्री की इच्छा के त्रिना पुरुष का उसे हाय लगाना भी वलात्कार है । अनियमित निपय-भोग से प्रेम नष्ट हो जाता है। काम-चर्चा को छोड़ कर अपनी पत्नी के साथ २४ घएटे विताना प्रत्येक गृहस्यी को सीखना चाहिये; जैसे अपने सायियों के साय पुरुष समय विता सकता है वैसे अपनी स्त्री के साय क्यों नहीं विता सकता । चाहे स्त्री पढ़ी-लिखी हो, चाहे न हो, प्रत्येक पुरुप को अपनी स्त्री के साय समय विताना सीखना चाहिये, ऐसे उपाय निकालने चाहियें जिन से समय विताया. जा सके। तभी उन में स्थिर प्रेम उत्पन्न हो सकता है।

विषय में लिप्त हो जाने से मनुष्य उस से भी हाय धो वैटता है। इस से स्नी-पुरुष का एक दूसरे से जी ऊन जाता है, कभी-कभी घृणा भी पैदा हो जाती है; जीवन शून्य, आत्म-हीन हो जाता है। विवाह-नन्थन में पड़ने से पहले प्रत्येक दम्पती को डाक्टर कोवन की निम्न पंक्तियाँ अवश्य पढ़ लेनी चाहियें:— ''नई शादी कर के पुरुष तथा स्त्री विषय-भोग की दलदल में जा बसते हैं। विवाह के प्रारम्भ के दिन तो मानो नैत्यिक व्यभिचार के दिन होते हैं। उन दिनों में ऐसा जान पड़ता है जैसे विवाह

जैसी उच्च तथा पवित्र संस्था भी मानो मनुष्य को पशु बनाने के लिये ही गढ़ी गई हो । ऐ नन-विवाहित दुम्पती ! क्या तुम समभते हो कि यह उचित है ?— क्या इस प्रकार तुम्हारी श्रात्मा नहीं गिरती ? — क्या विवाह के पर्दे में छिपे इस व्यभि-चार से तुम्हें शान्ति, वल तया सन्तोप मिल सकते हैं ?--क्या इस व्यभिचार के लिये छुट्टी पाकर तुम में प्रेम का पवित्र भाव बना रह सकता है ? देखो, अपने को धोखा मत दो। विषय-वासना में इस प्रकार पड़ जाने से तुम्हारा शरीर श्रीर श्रात्मा दोनों गिरते हैं ; और प्रेम ! प्रेम तो, यह वात गाँठ वाँघ लो, उन लोगों में हो ही नहीं सकता जो संयम-हीन जीवन व्यतीत करते हैं। नई शादी के वाद लोग विषय में वह जाते हैं; इस तरफ कोई ध्यान ही नहीं देता; परन्तु इस अन्धेपन से पति-पत्नी का भविष्य — उन का त्रानन्द, वल, प्रेम—ख़तरें में पड़ जाता है। व्यभिचारमय जीवन से कभी प्रेम नहीं उपजता — संयम को तोड़ने पर सदा घृणा उत्पन्न होती है, और ज्यों-ज्यों जीवन में संयम-हीनता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों पति-पत्नी का हृद्य एक दूसरे से दूर होने लगता है। प्रत्येक प्ररुप तथा स्त्री को यह बात समभा रखनी चाहिये कि विवाहित होकर विषय-वासना का शिकार बन नाना, शरीर, मन तथा आत्मा के लिये वैसा ही घातक है जैसा व्यभिचार । स्त्री-पुरुष के पारस्परिक रति-भाव के लिये स्त्री की स्वाभाविक इच्छा का होना त्रावश्यक है और यह इच्छा ऋतु-धर्म के ठीक बाद ही होती है, फिर नहीं। ऋतु-धर्म के बाद प्रत्येक स्वस्य स्त्री को इच्छा होती है; यदि वह पित पर अपनी इच्छा किसी प्रकार प्रकट कर दे तभी प्ररुष का स्त्री-संग होना चाहिये, अन्यया नहीं, कभी नहीं ! इस के विपरीत यदि पित अपनी इच्छा, अथवा किल्पत इच्छा, पूर्ण करना अपना वैवाहिक अधिकार समसे, और स्त्री केवल पित से डर कर उस की इच्छा को पूर्ण करे तो परिणाम प्ररुष के मिन्तिष्क पर वैसा ही होगा जैसा हस्त-मैशुन का ।"

'विवाह' श्रोर 'व्यभिचार'—वह भी 'पत्नी-व्यभिचार'! इस शब्द को बोलते और लिखते ही शर्म आती है, परन्तु अफुसोस ! यह शब्द सचा है, अत्यन्त सचा ! विवाह कर के तो प्रुक्प समभाते हैं उन्हें न्यभिचार के लिये क़ानूनी पर्वाना मिल गया-श्रव दिन-रात वे कुछ भी करें, उन्हें रोक सकने वाला कोई नहीं! परन्तु वे भोले समभाते नहीं कि संयम-हीन जीवन चाहे विवाह कर के विताया जाय चाहे विना विवाह के, ईश्वरीय नियमों के सन्मुख़ दोनों अवस्याओं में वह व्यभिचार है, मनुष्य चाहे 'विवाह' शब्द की दुहाई दे कर अपनी आतमा को घोला देने की कितनी ही कोशिश क्यों न करता रहे ! जब मुकदमा बड़ी अदालत में पेश होगा तव व्यभिचार के लिये समान की श्राज्ञा ले लेना कुद्रती कृानूनों से छुटकारा नहीं दिला सकेगा। इच्छा न होते भी पत्नी-संग करना हस्त-मैथुन से भी बुरा है। हस्त-मैथुन में तो पुरुष अपनी ही तबाही करता है ; पत्नी-न्यभिचार में वह उस पापी की तरह आचरण करता है जो आत्म-धात करता हुआ दूसरे की भी निर्देयता-पूर्वक हत्या कर डालता है। जीवन-संगिनी अपनी पत्नी को विषय-वासना की तृप्ति का साधन-मात्र बना लेना संसार का सब से बड़ा पाप है और स्त्री के साथ किया गया सब से बड़ा अन्याय है। हस्त-मेशुन पाप है, वेश्यागमन भी पाप है, परन्तु जो पति अपनी पत्नी की इच्छा के बिना उस पर बलात्कार करता है वह इन सब पापों को एक-साथ कर बैटता है—इसलिये पत्नी-ज्यभिचार महापाप है। विवाह जैसी पवित्र-संस्था की ओट में यह महा-पातक जीता है इसलिये इस के परिणाम भी कम भयंकर नहीं हैं।

गृहस्थी नान-बूस कर संयम तोड़ते हैं; इस से वे कैसे वर्चे ? वचने का उपाय अत्यन्त सरल है। स्त्री को पशु न समक्त कर उसे मनुष्य समका जाय। यह अनुभव किया जाय कि जिस प्रकार पुरुष, समाज की तथा देश की घटनाओं पर विचार कर सकते हैं इसी प्रकार स्त्रियाँ भी इन विषयों में दिलचस्पी ले सकती हैं। वे पुरुषों के ही समान हैं, पुरुषों की साधन-मात्र नहीं हैं। स्त्रियों में जहाँ यह भावना उठेगी वहाँ संयम स्त्रयं आ जायगा। इस समय स्त्री का स्थान पुरुष के जीवन में उस की काम-वासना को तृप्त करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है, पुरुष स्त्री के निकट आते ही काम-भावों के सिवाय कुछ नहीं सोच सकता। जब पुरुष तथा स्त्री किसी एक विषय पर वातचीत ही नहीं कर सकते, दोनों की प्रगति अलग-अलग, दोनों की मानसिक रचना अलग-अलग, दोनों का चेत्र अलग-अलग, तब वे मिल कर वहीं तो वात करेंगे

जो दोनों कर सकते हैं। यदि दोनों, जीवन की भिन्न-भिन्न घटनात्रों में समान हिस्सा ले सकें, साथ-साथ बैठ कर भिन्न-भिन्न विषयों पर विचार कर सकें, इकट्ठे काम कर सकें तो स्त्री-पुरुष की एक दूसरे के प्रति जो स्वाभाविक त्राकाँचा होती है वह पूरी होती रहे और विषय-भोग ही स्त्री-पुरुष के एक लेवल पर त्राने का एकमात्र माध्यम न रहे। प्रत्येक पित का कर्तन्य है कि अपनी पत्नी की रुचि अपने दैनिक कार्यों में उत्पन्न करे, उस में देश तथा समाज की घटनाओं पर स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति पैदा करे, उसे समाज का एक अंग बनाने की कोशिश करे। यदि ऐसा न होगा, स्त्री को पेट्रें की चीज समभा जायगा, उसे चिड़िया और बुलबुल बना कर उस के साथ खेलने के समय ही उसे पिंजड़े में से निकाला जायगा तो गृहस्य भी पाप का गढ़ा बना रहेगा, जैसा कि इस समय बना हुआ है।

विषय में ज्यादह फँसावट का कारण समाज में फैले हुए कई सूठे विचार भी हैं। हरेक गृहस्यी को उस के दोस्त यह समकाने की कोशिश करते हैं कि स्त्री काम-भाव को पसन्द करती है। इस सूठी वात के सिवा स्त्री के विषय में उसे न कुछ पता ही होता है, न बताया ही जाता है। वह समक्तता है कि यदि वह यह सब-कुछ न करेगा तो स्त्री उसे नपुँसक समक्तेगी, उस से घृणा करेगी। उसे बतलाया जाता है कि स्त्री के लिये पुरुष का पुरुपत्व यही है—बस, श्रीर कुछ नहीं! जैसा पहले कहा गया, इन 'विचारों' का भूत पुरुष को जितना डिगने की तरफ ले जाता

है उतना 'काम' का भूत नहीं। कौन पुरुप है जिस पर काम का भूत सदा सवार रहता हो; परन्तु कौन पुरुप है जो इन भूठे, गन्दे, सत्यानांशी विचारों के चक्कर में आकर अपने उपर काम के भूत को सवार न कर लेता हो! स्त्री के विषय में इस प्रकार की धारणा रखना उस की आध्यात्मिकता का तिरस्कार करना है। पुरुष तथा स्त्री दोनों को समभ रखना चाहिये कि काम का भूत न पुरुष पर ही सवार रहता है, न स्त्री पर ही; भूठे फैले हुए विचारों से ही दोनों इस भूत के शिकार हो रहे हैं और एक दूसरे की आत्मिक उन्नति में सहायक होने के बदले एक दूसरे को गिराने में बढ़-बढ़ कर हाथ ले रहे हैं!

न्यम श्रिष्ट्याय 'इ न्द्रिय - निग्रहः'

[ग. वेश्या-व्यभिचार]

वाह सम्बन्ध के अतिरिक्त स्त्री-पुरुप का सम्बन्ध व्यभिचार कहाता है। आत्म-व्यभिचार तथा पत्नी-व्यभिचार की तरह यह भी जान-वूस कर किये आत्म-पतन में गिना जाता है क्योंकि इस में भी मनुष्य जानता-वूक्तता गढ़े में कूट पड़ता है। इस समय इमारा समाज कुत्सित वासना की दुर्गन्घ के रौरव नरक में पड़ा सङ् रहा है। स्त्री को काम-क्रीड़ा की कउपुतली समभा जाता है-पुरुप जब चाहे उस से खेलता है । भोग और लालसा की वेदी पर स्त्री का सतीत्व नित्य वित चढ़ाया जाता है। नारी के प्रति उच्च-विचार उपहास की वान्तु समभे जाते हैं। कहने को कितना ही क्यों न कहा जाय कि इस समय पाश्चात्य-जगत् में स्त्री की स्यित पुरुष के समान होती जा रही है परन्तु जब तक पूर्व-पश्चिम-कहीं भी समाज के मस्तक पर वेश्यावृत्ति के कलंक का टीका विद्यमान है तब तक वह समाज गिरा हुआ है, समस्त स्त्री-समाज के घोर अपमान का अपराधी है । इस समय भारत में ५ लाख से अधिक वेश्याएँ हैं निन की वार्षिक आय मिला कर लगभग पौन अरव रुपया है । 'न स्वेरी स्वेरिगी कुतः' की

साभिमान घोषणा करने वाले अश्वपित कैक्ट्र के देश की आज यह दुर्दशा है! क्या उस महीपित की आत्मा इस देश की दशा को देख कर गर्भ आहें नहीं भर रही होगी?

इस पतन का प्रारम्भ कहाँ से होता है ?---इस का प्रारम्भ होता है समाज द्वारा खियों पर किये गये अत्याचारों से ! यदि कोई नर-पिशाच बलात्कार से भी किसी अवला का सतीत्व अपहरण कर ले तो उस निर्दोप अवला को समाज में से धक्के देकर वाहर निकाल दिया जाता है, परन्तु वह पापी पहले की तरह ही दनदनाता हुआ अपने पैसे के ज़ोर से समाज के वज्ञ:-स्थल को एड़ियों के नीचे कुचलता चला जाता है। वह अवला क्या करे ?--क्या खाये ?--क्या पहने ?--कहाँ रहे ? दु:खों की सताई, आफ़त की मारी, समाज के अन्याय-पूर्ण अत्याचारों से पीड़ित होकर वह कुँमाला उठती है, लज्जा के त्रावरण को ताक में रख देती है, क्योंकि समाज उसे चुनौती दे-दे कर कहता है—'तुम्हारे लिये यही रास्ता है, तुम पीछे कदम नहीं रख सक़ती' ! अनुभव उसे सिखा देता है कि जो लोग माँगने से पैसा तक नहीं निकालते वही नराधम अपनी पाराविक काम-पिपासा की तृप्ति के लिये ख़ज़ाने लुटा देते हैं ! वह वालिका जो किसी घर का श्राभूपण वनती, किन्हीं पुत्र-रत्नों को जनती, समाज से ठोकरें खाकर चौराहे में अपने शरीर को वेचने के लिये बैठ जाती है मानो घृणित-से-घृणित कृत्य कर के अत्याचारी समाज का उपहास कर रही हो।

भारत में वेश्यावृत्ति का सम्बन्ध विधवात्रों की दिनों-दिन नढ़ रही संख्या से अत्यन्त घनिष्ठ है । इस अभागे देश में विधवाओं की संख्या २॥ करोड़ से श्रिधक है। यदि भारत में क्लियों की संख्या १५ करोड़ मान लें तो मानना पड़ेगा कि यहाँ प्रत्येक है स्त्रियों में १ विधवा है। श्रायु का एक-एक पल दुराचारे में व्यतीत करने वाले भी इन विधवाओं से, जिन में से हज़ीरों ने पति के दरीन तक नहीं किये होते, आशा रखते हैं कि वे अनिन्म वंधचारिणी रहें। धन्यें हैं इसं देव-भूमि की विधवाएँ जो, पति-दर्शनं हुए हों या न हुए हों, विधवा हो कर पर-पुरुष के विचार की भी मन में नहीं लातीं। उन्हीं के सतीत्व से इस भूमि में अब तक भी कुछ दंग हैं। परन्तुं विभवाओं पर यह केंद्र लगा कर यदि पुरुष भी उन परं बुरी नज़रं न उठाते तभी तो वे वच सकतीं! वे विवाह न करें, श्रीर ये उन पर श्रपना जाल फैलाने से बाजू भी न आयँ तो व्यभिनार फैलने के सिवाय और परिशाम ही क्यां हो संकतां हैं ?

इस के अतिरिक्त विभवाओं के साथ वर्ताव क्या होता है ? एक सम्द्रद्ध पुरुप की स्त्री जो पित के जीते समय रानी थी, सारे घर पर राज करती थी, उस के मरते ही घर में दासी से बुरी हो जाती है। जिसे खाने-पीने की कमी न थी वह सूखे चनों को मोहताज हो जाती है। इस धृणित ज्यवहार से, इस आर्थिक समस्या से बुटकारा पाने की चाह यदि किसी अवला को गिरा देती है तो उस के पाप का उत्तर-दायित्व समाज के सिर है, क्यों कि समाज अपने व्यवहार में परिवर्तन नहीं लाता परन्तु उस अवला को गढ़े में गिरा कर उस का पालन करने के लिये तैयार रहता है। यह अपने हाथों पाप के बीज को बोना नहीं तो क्या है?

स्त्री चारों तरफ़ से समाज की सताई हुई ही इस जवन्य ऋत्य में पड़ सकती है। वह अपने पापी पेट की ख़ातिर इस नरक में कूद पड़ती है। समाज अपने व्यवहार को बदलने की श्रपेचा इस पाप को पालना ज्यादह पसन्द करता है, तभी यह पाप पल रहा है, नहीं तो कोई वेश्या ऐसी न होगी जिसे अपने पेशे से तीव घृणा न हो । 'चाँद' के वेश्या-श्रंक में उस के योग्य सम्पादक लिखते हैं:-- "एक युवती वेश्या ने एक वार हमें एंक पत्र लिखा था, जिस का श्राशय इस प्रकार है:--क्या श्राप समभते हैं कि अनेक पुरुषों के साथ शयन करने में हमें त्रिल्कुल दुं:ल नहीं होता ? हमारे भी हृद्य है और उस हृद्य में एक प्रकार की तीव्र पिपासा है, वह क्या इस प्रकार के पतित जीवन से शान्त हो सकती हैं ? हम तो पैसे से ख़रीदी जाने वाली काम की मूर्त्तियाँ हैं---एक सुन्दर युवक को हम प्रेम करती हैं परन्तु एक धनी कुत्सित वृद्ध के लिये हमें उस के संग-सुख का श्रानन्ट नहीं मिलता। हमारा जीवन भयंकर त्राग्नि-कुएड के समान है।" ं वेश्या-वृत्ति का परिणाम क्या होता है ?—इस का

वेश्या-वृत्ति का परिणाम क्या होता है ?—इस का जाज्वल्यमान चित्र डा॰ फुट ने यूँ खींचा है:—''कल्पना करो कि कोई व्यक्ति ऐसे स्थान पर खड़ा हो जाय जहाँ से सब लोग आते-जाते हों; वहाँ खड़ा होकर वह कहे कि यदि पैसा मिलेगा

तो उसे नो-कुछ खाने को दिया नायगा वह खा लेगा। फिर् कल्पना करो कि सेंकड़ों मन-चले नौजवान उस की वेवकूफ़ी की तारीफ़ करते हुए उसे खाने को ला-ला कर देने लगें ; एक आदमी ऐसी चीज़ ला दे जो उसे पसन्द हो, दर्जनों लोग ऐसी चीन लाएँ निसे खाते ही उल्टी त्राती हो, त्रीर वीसियों ऐसी चीज़ लाएँ जिस की उसे ज़रूरत ही न हो या उस के शरीर में गुंजाइरा न हो । पेट पर यह अत्याचार दिनों तक, महीनों तक श्रीर वर्षों तक होता रहे । दुनियाँ में कौन-सा श्रादमी है जिस का पेट इस दुरुपयोग से वीमारियों का घर नहीं वन नायगा ? लान में योड़ा-बहुत श्रनियम कर देने से ही पेट ज़राब हो जाता है, ख्रपचन की शिकायत हो जाती है; फिर जिस व्यक्ति का चित्र ऊपर खींचा गया है उसे नो बीमारी होगी उस का नाम. तो भगवान् ही जाने क्या होगा! वस, यह समक्त रखना चाहिये कि उत्पादक-श्रंगों की रचना पेट से भी कोमल है श्रोर यदि उन का दुरुपयोग किया जायगा तो उन की वीमारी इतनी भयंकर होगी जिस का कोई ठिकाना ही नहीं। अधिक विषयासक्ति से ही प्रदर्, गर्भ का गिर जाना आदि अनेक उपद्रव उट खड़े होते हैं ; ग्रोर फिर नत्र कोई स्त्री पैसे मिलने पर किसी को भी अपने पास आने दे, एक-ही दिन-रात में कईयों को श्राने दे, जिन की वह रत्ती-भर भी पर्वा नहीं करती या जिन से. वह पूरी तौर पर घृणा करती है उन सत्र को अपने पास आने दे तो उस के गुहा-श्रंगों में विष भर जाना स्वाभाविक है, जो

उस का संसर्ग करेगा वही उस विष से त्राकानत हो जायगा।" रात्रि के एकान्त में वेश्यालय की तरफ कट्म बढ़ाते हुए युवक को स्मरण रखना चाहिये कि 'सन वेश्याएँ किसी-न-किसी समय रोगाकान्त होती हैं, और अनेक वेश्याएँ हर समय रोगाकान्त रहती हैं।' वेश्याओं से जो वीमारियाँ समाज में फैल जाती हैं वें अत्यन्त भयानकं हैं। हेग तंया हैने के कीटागुर्ओं को फैलाने वाले चूहों तथा मिक्लयों की तरहं वेश्याएँ भी गन्दे-गन्दें संक्रामक रोगों की वाहक हैं। प्रो॰ टारनौस्की का कथन है कि एक वेंश्या ने १० महीनों में २०० पुरुषों को उपदेश से पीड़ित कर दिया । ये पुरुष श्रागे चल कर जितनी सन्तित को रोगाकान्त कर देंगे उस का हिसाव लगाने से कुछ समभ त्रा सकता है कि वेंश्यावृत्ति करने वाली स्त्री समाज के लिये कितनी घातक है! वेंश्यागृह में प्रविष्ट होकर युवक इन विप-युक्त संक्रामक कीटाग्राओं की गठरी को साय बाँच लाता है, घर में ब्रांकर अपनी निष्कलंक पत्नी में उसी विष का संचार कर देता है। उस मूर्ख को पता नहीं होता कि अन्धकार में जिप कर किये हुए उस के पाप, दिन के समय, सब के सन्मुख, शरीर धारण कर, उठ खड़े होंगे श्रीर उस के श्रधःपतन का खुले-श्राम दिंदोरा पीटेंगे, यहाँ तक कि कई सन्ततियों तंक उस की गिरावट का ढिंढीरा पीटते जांयँगे। वह खय रोग-पीड़ित हो जाता है; उस की पत्नी उस के पापों को भुगतती है ; उस के बच्चे जन्मते-ही उस के पापों की लेकर पैदा ्होते हैं ! दैवींय नियमों का तिरस्कार करने वालों से बदला लेते समय प्रकृति रोद्र रूप धारण कर लेती है, श्रौर उस विकरालं रूप में ही वह डिगने वालों को बचने का इंशारा कर जाती हैं!

वेश्यावृत्ति मुख्यतः श्रायिक-समस्या तया सामाजिक दुर्व्य-वस्या का परिणाम है। नहीं तक इस का उद्देश्य श्रार्थिक होती है वहाँ तक यह खुलें वाज़ारं होती है, क्योंकि व्यापारी की वाजार की जुरूरंत होती हैं। कभी-कभी श्रार्थिक कारंगों के मंभाव में भी यह वृत्ति पायी जाती है, श्रीर क्योंकि उस संमयं श्रार्थिक-समस्या कारण नहीं होती अतः ऐसी अवस्था में यह वृंत्ति द्विपी रहती है । प्रत्येक शहर के वड़े श्रादमियों के विपंय में कहानियाँ प्रचलित होती हैं: लोग कहते हैं: यह उंस के यहाँ जाता है : वह उस के यहाँ जाती है : इन कहानियों में जहाँ मूह की मात्रा हाती हैं वहाँ सच की मात्रा भी कम नहीं होती। नव परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव के स्त्री-प्ररुपों को विवाह के वन्यन में जकड़ दिया जातां है तो थोड़े-हीं दिनों में दोनों की आँखें खुल जाती हैं। जहाँ तलांक हो संकता है वहाँ पित-पत्नी श्रदालतों का सहारा लेते हैं श्रीर नहाँ तलाक नहीं है। सकता, एक वार की गुलती को श्राजन्म मुगतना है।तां है, वहाँ छिपे रास्ते निकल श्राते हैं । भारत में माता-पिता सन्तान का विवाह कर देना धार्मिक कृत्य सममाते हैं, परन्तु इस पवित्र कार्य को करते हुए वे यह भूल जाते हैं कि जिन दो श्रात्मार्श्रों को जन्म-भर के लिये जोड़ने की वे ज़िम्मेवारी ले रहे हैं उन में कुछ समता भी है या नहीं! जात-पात को वे देख लेते हैं,

परन्तु स्वभावों की अनुकूलता को, योग्यता की समानवा को देखना वे त्रावश्यक नहीं समभाते । इस से बढ़ कर दुःख की बात क्या हो सकती है कि विवाह जैसी घटना, जो जीवन में एक वार ही होती है, जिस पर मानव-जीवन का भविष्य निर्भर है, हो जाती है, और उस का जिन से संत्र-से-ज्यादह सम्बन्ध है उन से एक अज्ञर तक नहीं पूछा जाता ! माता-पिता आपस में ही सन तय कर डालते हैं, मानो लड़के-लड़की की शादी क्या होगी, माता-पिता की शादी हो रही हो ! यह अवस्या गृहस्यों को अशान्त बना देती है, व सीधे मार्ग से न यल कर उल्टे मार्ग से चलने लगते हैं। इसी दुर्व्यवस्या को रोकने के लिये प्राचीन काल में 'स्वयंवर' होता था-माता-पिता की देख-रेख में, उन की संरचा में, उन की सलाह से, लड़की लड़के को वरती थी, श्रोर लड़का लड़की को स्वीकार करता था! इसी प्रया का फिर से प्रचार होना चाहिये! देश की श्रार्थिक स्थिति को सुधारने, विधवाओं के साय दुर्व्यवहार को रोकने तया गुण्-कर्मानुसार विवाह की प्रया को चलाने से ही वेश्यावृत्ति के प्रश्न को हल किया ना सकता है।

दशम ग्रध्याय

'इ न्द्रिय - नि ग्रहः

[घ. स्वप्त-दोष]

या कि इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है:—जान-बूक्त कर संयम तोड़ना श्रोर विना-जाने संयम का टूट जाना। जान-बूक्त कर संयम-हीन जीवन के मुख्यतः तीन प्रकार होते हैं जिन पर पिछले तीन श्रध्यार्थों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। बिना-जाने संयम टूट जाना प्रायः स्वप्नावस्या में होता है, श्रोर इसीलिये इसे चालू भाषा में 'स्वप्न-दोप' कहा जाता है। पिछले तीन श्रध्यायों में वर्णित पाप मनुष्य की जागृतावस्या के पाप हैं, उन्हें मनुष्य जान-बूक्त कर करता है; उन से बचना चाहे तो बच सकता है, इसलिये वे पाप हैं; स्वप्न-दोप सोते हुए हो जाता है, श्रपनी इच्छा के न होते हुए भी हो जाता है, कभी-कभी इसे रोकने की प्रवल इच्छा के होते हुए भी हो जाता है, इसलिये यह पाप नहीं परन्तु एक प्रकार का 'रोग' है।

स्वप्त-दोप का ऋर्य है, सोत समय वीर्य-पात हो जाना। इस के विपय में बड़ा मत-भेद पाया जाता है। कईयों का कयन है कि यदि दो या तीन सप्ताहों में एक वार स्वप्त-दोष हो जाय तो उस से कुछ हानि नहीं होती। कम-से-कम जिस स्वप्न-दोप के पीछे सिर-दर्द, भारीपन आदि न हों वह मतुप्य-शरीर के लिये स्वाभाविक है, फिर चाहे वह सप्ताह में एक वार हो या दो वार। जिस के पीछे मतुप्य अपने को खोखला-सा, यका हुआ-सा अतुभव करे वह चाहे महीनों में एक वार ही क्यों न होता हो, अस्वामाविक है, रोग का सूचक है। दूंसरे लोगों का कयन है कि स्वप्न-दोप चाहे किसी प्रकार भी क्यों न हो, जीवन में चाहे केवल एक वार क्यों न हो, अस्वामाविक है, रोग का सूचक है, स्वाभाविकता का कभी नहीं, किसी प्रकार भी नहीं!

इन दोनों विचारों में से पिछला विचार ही ठीक है।
प्रकृति में इतनी फिजूलज़र्ज़ी नहीं हो सकती कि वह जीवन के
सार भाग को इस प्रकार लुटाने लगे। प्राणी का शरीर श्रटकल
से बना हुआ नहीं है। जिन निस्सार पदार्थों की शरीर को आवस्यकता नहीं होती उन्हें भी शरीर से निकालने के लिये ख़ासख़ास रास्ते बनाये गये हैं, तार्कि जब चाहें तब उन्हें शरीर से
ख़ारिज कर दें। मलाशय तथा मूत्राशय में मल-मूत्र संचित होता
रहता है और प्राणी अपनी सुविधानुसार उन्हें निकालता है।
यदि कोई बालक बैठा-बैठा बिना-जाने पेशान कर दें, या विस्तर
में पहा-पड़ा अनजाने टट्टी फिर दे तो हम समभते हैं कि उसे
कोई बीमारी है, और अच्छे बैद्य की सलाह लेते हैं। जब मलसूत्र भी अनजाने नहीं निकलते तो वीर्य जैसे अमूल्य तत्व का
सोते या नागते किसी समय भी अनजाने निकल जाना

क्या कभी स्वाभाविक हो सकता है? मल-मूत्र का तो वेग होता है, इन के वेग को रोकना कठिन होता है, फिर भी इन का यूँ की निकल जाना बीमारी है; वीर्य का तो, जब तक मनुष्य अपने को विषय-धारा में वहा न दे, कोई ऐसा वेग ही नहीं होता, फिर इस का यूँ ही निकल जाना बीमारी नहीं तो क्या है? अस्ल में यह बात ठीक मालूम पड़ती है कि मृत-देह की चीरा-फाड़ी करने वाले जीवित-देह के विषय में कुछ नहीं जानते, नहीं तो किसी डाक्टर को यह कहने का साहस न होता कि स्वप्न-दोष किसी अवस्था में स्वाभाविक भी है!

प्रश्न हो सकता है कि, फिर, कई वार स्त्रप्त-दोप के बाद सिर-दर्द, भारीपन थकावट श्रादि क्यों नहीं होते; यही नहीं, कई लोग तो स्त्रप्त-दोप के बाद हलका-सा श्रन्तभव करते हैं, उन की वैचेनी दूर-सी हुई जान पड़ती है:— इन दोनों वातों का क्या कारण है ?

शारीर-शास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को ज्ञात होना चाहिये कि शरीर में एक आधार्य-जनक जीविनी-शक्ति है जो शरीर के प्रत्येक ज्ञत का और रोग का स्वयं इलाज करती रहती है। औपिधयों का काम उस संजीविनी-शक्ति को केवल सहायता पहुँचाना है। हृप्ट-पुष्ट लोगों के शरीर के किसी भाग से रुधिर बहने लगता है, परन्तु उन्हें मालूम नहीं होता कि चोट कव लगी थी। कभी-कभी तो मनुष्य अपने शरीर पर खुरण्ड देख कर आश्चर्य करने लगता है, क्योंकि उसे मालूम ही नहीं होता कि यह कभी त्रण के रूप में भी था। शरीर की संजीविनी-शक्ति उस के पता लगने से भी पूर्व उसे ठीक कर छोड़ती है । देर-देर से होने वाले स्वप्न-दोयों से, जिन का कोई बुरा श्रसर दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार की हानि शरीर को पहुँचती है। शरीर की संजीविनी-शक्ति उस योड़ी-सी हानि की पूर्ति कर देती है श्रीर मनुप्य समभाने लगता है कि उसे कुछ नुक्सान ही नहीं पहुँचा। यह मनुष्य की मूर्खता है। अस्त बात यह है कि हानि पहुँची, श्रौर अवश्य पहुँची, परन्तु विश्व की संहारक शक्तियों पर रचनात्मक शक्तियों ने विजय पाया । वीर्य के एक विन्दु का नारा भी शरीर के लिये हानि-कारक है, यद्यपि जन तक यह हानि छोटे रूप में होती है, शरीर की संजीविनी-शक्ति उस हानि की स्वयं पूर्ति कर लेती है । इसलिये स्वप्त-दोप, निस में अनजाने वीर्य-नाश हो जाता है, अस्वाभाविक तया रुग्ए अवस्या ही है, स्वाभाविक तथा स्वस्यावस्या नहीं !

'स्वप्त-दोप से कई लोग वेचैनी दूर-सी हुई अनुभव करते हैं'—इस का भी ख़ास करण है। स्वस्य पुरुष स्वप्त-दोष के बाद कोई शारीरिक हानि अनुभव न करे यह तो सम्भव है, परन्तु वह इस से 'वेचैनी दूर-सी हुई' अनुभव करे यह असम्भव है, महा-असम्भव ! हाँ, अस्वस्य पुरुष, ऐसा पुरुष जिस ने शारीरिकं अथवा मानसिक अपवित्रता से अपने अन्दर काम-भाव उत्तेजित कर लिया हो, जिस ने गन्दे विचारों को मन में ला-ला कर स्नायु-तन्तुओं में तनाव उत्पन्न कर लिया हो, जो मनोविकारों में उद्देलित हो उठा

हो परन्तु काम-वासना को पूर्ण न कर सका हो, ऐसा पुरुष ही स्त्रप्त-दोष से 'वंचैनी दूर-सी हुई' श्रवुभव कर सकता है। श्रीर, ठीक भी है। उस ने अपने काम-तन्तुओं को कृत्रिम उपायों से उत्तेजित कर के उन में जो वेचैनी पैदा कर दी है वह इसी प्रकार तो दूर हो सकती है। जब काम-भाव की गर्मी पैदा कर दी गई तो उस का निकास भी किसी-न-किसी प्रकार होगा- चाहे जान-बूभ कर, चाहे वे-जाने-बूभे, नहीं तो सारा स्नायु-चन्न श्रास्त-व्यस्त हो नायगा । परन्तु इस प्रकार क्या सचमुच वेचैनी दूर हो जायगी ?--कभी नहीं ! इस प्रकार कुछ ज्ञाणों के लिये वेजेनी मिट कर दुगुने और तिगुने वेग से उठ खड़ी होगी और कुछ मिन्टों के वेचैन और दीवाने को उम्र भर का वेचैन छोर उम्र भर का दीवाना वना देगी क्योंकि शक्ति-हीनता की वेचैनी सब से बड़ी वेचैनी है। स्वप्त-दोप से किसी की वेचेंनी दूर हो जाती है, सममाना, कुछ वेवकूफ़ों का चलाया हुआ वहम है - इस से वेचैनी दूर नहीं होती, बढ़ती है !

इसिलये यह मानना चाहिये कि स्वप्त-दोष का शरीर के स्वाभाविक विकास में एक चाण भर के लिये भी स्थान नहीं है। स्वप्त-दोष शरीर की रुग्णावस्था है। शायद यह कथन छुन कर कई युवक चौंक उठें त्र्यौर पूछ बैठें:—'तो क्या संसार के किसी कोने में कोई ऐसा पुरुष है जिसे एक वार भी स्वप्त-दोष न हुत्रा हो?' इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है:—'यदि ऐसा पुरुष संसार में है नहीं, तो हो सकता है; त्रौर

यदि कोई पुरुष पूर्ण-स्वस्य है तो वह ऐसा ही है!' शायद यह उत्तर श्रत्यन्त संचित्त है श्रतः इसे सममाने के लिये श्रावश्यक है कि पूर्ण-स्वस्य पुरुष के जीवन के स्वाभाविक-विकास का एक खाका खींच दिया जाय जिस से स्पष्ट हो जाय कि उस के जीवन में स्वप्त-दोष का कोई स्थान है भी या नहीं।

कल्पना करो कि एक सात वर्ष का वालक है जो पैत्रिक कुसंस्कारों से सर्वया मुक्त है, पिनत्र तया शुद्ध परिस्यितियों में रहता है। वह राजसिक भोजन से बचता, शरीर तथा मन को पवित्र रखता, अञ्छे साथियों से मिलता-जुलता और ब्रह्मचर्य के सब नियमों का विधिवत् पालन करता है। ऐसे वालक को जो वर्तमान सभ्यता के कलुषित सम्पर्क से बचा हुआ है दस, बीस, पचास, सत्तर या सौ वर्ष - जितनी देर तक भी वह जीवित रहे-एक वार भी स्वप्न-दोष नहीं होगा। प्रकृति की ऐसी ही रचना है, परमेश्वर का ऐसा ही विधान है। इस मार्ग से अगु भात्र भी विचलित होने वाले को दैवीय शासन के मंग करने का दगड मिलता हैं । हमारी कल्यना के जगत् का यह बालक श्रादर्श वालक होगा । वह मन में कुविचार का बीज तक न पड़ने देगा श्रोर इसीलिये १८ वर्ष की श्रायु में, कुमारावस्था श्रा जाने पर भी, उसे काम-वासना का श्रृतुभव तक न होगा। उस के शरीर की रचना में इस श्रायु में वीर्य का 'श्रन्तः स्नाव' ही हा रहा होगा। श्रीर यह 'श्रन्तःसान' अन्दर-ही-अन्दर उस के शरीर में खप रहा होगा, उस का शुक्राराय अभी तक ख़ाली ही होगा। उसे, जानते हुए या श्रनजाने, किसी प्रकार के वीर्य-स्नाव का श्रानुभव ही नहीं होगा। वह इस घटना से ही अनभिज्ञ होगा। कुमारावस्या के अनन्तर, जब वह पचीस वर्ष के लगभग होने लगेगा, युवक है। जायगा, तत्र 'विहःस्राव' स्त्रयं प्रकट हे। कर शुकाशय को भरने लगेगा। पचीस वर्ष की श्रवस्या में वहिःस्राव का प्रकट होना उस के शरीर के स्वाभाविक विकास का परिणाम होगा, इस के लिये मानसिक उत्तेनना की श्रावश्यकता न होगी। इस श्रायु में 'वहिःस्राव' का प्रकट होना ऐसा ही स्वाभाविक होगा जैसा पकने पर फल का शाला से टपक पड़ना। श्रव तक जो शारीरिक वृद्धि हुई उस का यह श्रवश्यम्भावी परिणाम होगा। इस स्यल पर यह न भुलाना चाहिये कि 'बहिःस्राव' केवल श्रन्तःस्त्राव - गुक्र-कीटाग्रु का ही नामान्तर है। इन शुक्र-कीटा-गुर्ओं में स्नामानिक गति होती है। यही गति, हमारे काल्पनिक पूर्ण-स्वस्य पुरुष में काम-भाव के उत्पन्न होने का भौतिक कारण होती है। शुक्र-कीटागुर्झों की गति भौतिक गति है, काम-भाव मानिसक गति है, दोनों का एक दूसरे के साथ कारण-कार्य का सम्बन्ध स्पष्ट है । जब काम-भावइस प्रकार उत्पन्न होता है तब वह स्वाभाविक होता है, बढ़ते हुए शरीर की एक श्रावश्यक श्रवस्था का द्योतक होता है, श्रीर इसीलिये श्रादर्श होता है! पचीस वर्ष की आयु के बाद उक्त पुरुष के सामने दो रास्ते खुले हो सकते हैं। यदि वह त्राजन्म ब्रह्मचर्घ्य का जीवन विताना चाहता हो तो उसे 'वहिःस्नाव' को शरीर में खपा लेने के रहस्य-मय

मार्ग का, जिसे प्राचीन परिभाषा में 'ऊर्ध्वरेता' का अमार्ग कहा जाता था और जिस का अस्यास ऋषियों के आश्रमों —गुर्हे कुलों-में किया जाता था, अवलम्बन करना होगा और आदित्य नहाचारी के आदर्श को जीवन में घटाना होगा। 'वहि:स्नाव' को, अर्यात् शुक्र के उस भाग को जो शुक्राशय में त्रा पहुँचा है, शरीर में खपा लेना एक विद्या थी, जिस का अभ्यास कोई विरला ही करता था। 'बहिःस्नाव' में एक नवीन प्राणी को उत्पन्न करने की शक्ति है ; इसे यदि अपने अन्दर खपाया जा सके तो इस के द्वारा पुरुष के अपने शरीर तथा मन में भी नवीन शक्ति उत्पन्न हो सकती है। ब्रह्मचर्य्य का अभिप्राय वीर्य की भौतिक शक्ति को, साधना से, श्राध्यात्मिक शक्ति के रूप में बदल देना है। प्राणि-नगत् में काम-भाव एक अत्यन्त उग्र, उत्कट, शक्ति की धारा है जिसे पशु-पद्मी रूपान्तरित नहीं कर सकते, जिस से वे अपन जैसे दूसरे प्राणी ही उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु मानव-जगत् में इस प्रवल, वेगवती धारा को जहाँ नये प्राणी उत्पन्न करने में लगाया जा सकता है वहाँ, इस की दिशा वदल कर, इस की असीम शक्ति के बल से ही, श्राघ्यात्मिक जगत् में प्रवेश किया जा सकता है। नदी का नल-प्रपात जल का वेग ही तो है, परन्तु उसी वेग को रूपान्तरित कर के विद्युत् का असीम भग्डार पैदा किया जा सकता है। वीर्य को खर्च न किया जाय, उसे अन्दर-ही-अन्दर खपाया जाय, तो वह भी जल के वेग की तरह रूपान्तरित होकर विद्युत् की-सी शक्तियाँ उत्पन्न कर सकता

ب

بر

है। इस मार्ग के अतिरिक्त दूसरा मार्ग भी पचीस वर्ष के वाद खुला है। यदि वह पुरुष, जिस का हम चित्र खींच रहे हैं, श्राजन्म ब्रह्मचारी नहीं रहना चाहता तो वह विवाह करा सकता है। इस प्रकार वह अपनी उत्पादक-शक्ति का उपयोग नवीन प्राणी उत्पन्न करने में करेगा । विवाह में भी वह प्राकृतिक जीवन ही व्यतीत करेगा । जिस प्रकार उस में कामेच्छा प्राकृतिक तौर से उत्पन्न हुई, उसी प्रकार स्त्री-प्रसंग की इच्छा भी उस में प्रकृति द्वारा ही नियमित होगी। शुक्र-कीटाग्रुओं की स्वाभाविक गति से उस में काम-भाव उत्पन्न हुत्रा; शुकाशय के पूरा भर जाने से उस में प्रसंगेच्छा उत्पन्न होगी । उस का शुकाशय जल्दी-जल्दी न भरेगा । उस ने काम-भाव को जगाने के लिये कभी अपने को उत्तेजित करने का तो प्रयत किया ही नहीं - कामेच्छा तो उस में प्रकृति के नियमों के श्रवुसार शरीर की एक खास श्रवस्था में ही स्वयं उत्पन्न होती है। क्योंकि वह शुक्रोत्पादक अवयर्वो को उन की स्वामाविक गति से चलने देता है, उन पर अप्राकृतिक द्वाव नहीं डालता, इसलिये उस के शरीर में 'अन्तःस्राव' तो होता ही रहता है, परन्तु 'वहिःस्नाव' होकर शुक्राशय को भरने में पर्याप्त समय लगता है। प्राणि-शरीर का स्वभाव है कि उसे जिन श्रवस्यात्रों तथा परिस्थितियों में रखा जाय वह उन्हीं के अनुकूल वन जाता है । शुक्रोत्पादक अवयव 'वहिःस्राव' उत्पन्न करते हैं । यदि किसी को इस की जल्दी-जल्दी आवश्यकता होती है तो व भी जल्दी-जल्दी शुकाशय को भरते रहते हैं ; यदि किसी को देर में त्रावश्यंकता होती है तो वे भी धीरे-धीरे काम करते हैं। स्वाभाविक-जीवन व्यतीत करने वाले आदर्श-व्यक्ति के लिये वेद की आज्ञा है कि वह अढ़ाई या तीन साल में एक सन्तान उत्पन्न करे इसलिये उस के उत्पादक-श्रंग इस गति से काम करते हैं कि उस के शुक्राशय अढ़ाई साल में, या तीन साल में भरते हैं । शुकाराय के भरने के समय को इच्छा-पूर्वक घटाया या वढ़ाया जा सकता है। जल्दी-जल्दी शुक्राशय के भर जाने का श्रंभिप्राय यह है कि 'विहःस्राव' वार-त्रार निकले । 'विहः-.स्राव' जन भी निकलेगा 'श्रन्तःस्राव' में रुकावट डाल कंर ही निकलेगा। 'श्रन्त:स्नाव' की रुकावट का श्रमिप्राय शरीर की .वृद्धि का रुकना है। त्रतः कुचेष्टात्रों त्रोर कुविचारों से वार-वार शुकाराय को भर कर ख़राव होने में वहादुरी नहीं, वहादुरी है कुचेष्टाओं तया कुविचारों की जड़ काट कर 'विहि:स्नाव' न होने देने में, और 'अन्तःस्नाव' में चाण भर के लिये भी रुकावट न आने देने में । इस प्रकार काम-भाव को अपने कावू कर लेने का नाम ही गृहस्यी का ब्रह्मचर्य है, श्रीर निस्सन्देह यह ब्रह्मचर्य ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्च्य से भी कठिन है। गृहस्थी के लिये यही .योग है, क्योंकि योग 'निरोध' का ही तो दूसरा नाम है। जिस श्रादर्श व्यक्ति का हम ने चिन्न खींचा है उस के समान निरोध करने वाला दूसरा कौन हो सकता है !

में मानता हूँ कि यह चित्र एक आदर्श व्यक्ति का है। कियात्मक जगत् में ऐसा व्यक्ति, जिस का आन्तरिक विकास उक्त रूप से हुआ हो, मिलना प्रायः श्रासम्भव है। परन्तु यह चित्र जान-बूमा कर खींचा गया है। इस का उद्देश्य केवल यह बतलाना है कि मनुष्य के स्वाभाविक विकास में स्वप्न-दोष का कोई स्थान नहीं है। स्वस्य व्यक्ति के जीवन में वीर्य के निकास का केवल एक ही उपाय है, श्रीर वह है जानते हुए निकास; श्रनजाने निकास का होना श्रस्वाभाविक तथा रुग्ण श्रवस्था का सूचक है। यदि पुरुष स्वस्थ रहना चाहे तो जानते हुए वीर्य का निकास भी केवल गृहस्थ-धर्म में, श्रीर वह भी तब, जब प्रकृति की मांग हो, होना चाहिये। श्रस्वाभाविक, कृत्रिम उपायों से, भावावेशों में श्राकर ऐसा काम कर बैठना महा-भयंकर पाप है।

परन्तु हमें श्रादर्श व्यक्तियों से काम नहीं पड़ता। जिन युवर्कों की जीवन-समस्याश्रों को हमें हल करना है वे वंशानुगत रोगों से भी मुक्त नहीं होते। भगवान् जाने उन के माता-पिता, दादा-पड़दादा तथा श्रन्य पूर्वजों ने किन-किन रोगों का संग्रह किया होता है। श्राज का वालक उन सब पूर्वजों के पापों की गठरीं सिर पर लाद कर पैदा होता है। पैदा होने के वाद भी उस का पालन-पोषण खास्थ्य के नियमों के श्रनुसार नहीं होता। वालक के पेट को उत्तेजक पदार्थों से भर देने में कोई कसर नहीं उठा रखी जाती, उसे गन्दगी में खुला छोड़ दिया जाता है; श्राचार-श्रष्ट, पतित साथियों के साथ वे-रोक-टोक खेलने दिया जाता है, ब्रह्मचर्य के एक-एक नियम को गिन-गिन

कर खून सावधानी से तोड़ा जाता हैं। यदि ऐसी सड़ी हुई परिस्थितियों में पल कर वालक १४-१५ वर्ष की आयु में ही स्वप्त-दोप की शिकायत करने लगे तो त्राध्यर्य की कौन-सी वात है ? जिस श्रखाभाविक जीवन में उन्हें रखा जाता है उस से उन में काम की प्रवृत्ति शीघ-ही नाग उठती है। पूर्ण-स्वस्य पुरुष के वीर्य-कोश वीस वर्ष की त्रायु में भी विल्कुल खाली होते हैं, परन्तु यहाँ ब्रोटे-ब्रोटे वच्चों के वीर्य-कोश, तेरह-चौद्ह वर्ष की त्रायु में ही उत्पादक-त्रंगों के स्नाव से भर जातें हैं। यह तो संसार का मोटा-सा नियम है। माँग जल्दी शुरु हो गई-छोटी त्रायु में ही ऋगड काम करने लगे-'विहःस्राव' भी जल्दी-ही निकलना शुरु हो गया । ज्यों-ज्यों माँग बढ़ती गई, त्यों-त्यों स्नाव भी बढ़ता गया । वीर्य-कोश भर कर ख़ाली हुए-फिर भरे, फिर ख़ाली हुए-त्रस, खप्त-दोष का सिलसिलां जारी हो गया। सप्ताह में एक वार---दो दिन में एक वार---हर रोज़-शीर एक रात में कई वार,-माँग के पैदा होने श्रीर पूरा होने का चक्र इस भयंकर वेग से चलने लगता है ! यह 'बहि:स्नाव' जितना बढ़ता है उतना ही 'अन्त:स्नाव' घटता है, 'क्योंकि वालक में तो 'अन्तःस्नाव' ही 'बहिःस्नाव' के रूप में प्रकट होता है, श्रीर वड़ी उम्र में 'श्रन्तःभाव' 🕂 शुक्र-कीटागुश्री का नाम ही 'बिहः माव' है। 'श्रन्तः माव' के सूख जाने से जो हानियाँ होती हैं वे स्वप्न-दोष के रोगी के चेहरे पर भालकने लगती हैं।

यह सत्र स्त्रीकार करते हैं कि वर्तमान सभेयता की सन्तान प्रायः सभी अस्त्रस्य है । आदर्श, पूर्ण-स्वस्य व्यक्ति से हम लोग कोसों की दूरी पर लड़े हैं--- लज्य से अत्यन्त अधिक विचलित हुए पड़े हैं ! ऐसी श्रवस्थाओं में साधारण रूप से स्वस्थ कहे नाने वाले व्यक्ति के लिये क्रियात्मिक सलाह यही दी ना सकती है: "नव रात को अनजाने किसी स्वप्त में काम-वश बहुत वार वीर्य नाश होने लगे तो उस से भारी हानि पहुँचती है। यदि दो या तीन सप्ताह में एक वार ही हो, श्रीर ऐसा होने पर कम-ज़ोरी के लक्स न दिखाई देते हों, तो ज्यादह चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं । परन्तु यदि सप्ताह में दो वार या इस से अधिक वार स्वप्त-दोप होने लगे तो उसे रोकने के लिये अवश्य हाय-पैर मारने चाहियं, नहीं तो इस का परिणाम स्नायु-शक्ति के लिये श्रत्यन्त यातक होगा। रोगी कमज़ोर तथा चिड्-चिड़ा हो जायगा, उस का स्वास्थ्य नष्ट-श्रष्ट हो जायगा।" यह सब-कुछ होते हुए भी यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि स्वप्त-दोप चाहे कितनी देर के बाद ही क्यों न हो सदा शरीर की श्रस्वाभाविक श्रवस्था का ही सूचक है, स्वाभाविक का कभी नहीं।

स्वप्त-दोप कैसे होता है ? पहले-पहल उत्तेजना होती है, फिर कोई कामुकता का स्वप्त आता है, उसी स्वप्त में वीर्य-स्नाव हाते ही एक-दम आँखें खुल जाती हैं, आत्म-ग्लानि, आसमर्थता, लज्जा और निस्सारता के भाव चारों तरफ से घेर लेते हैं। स्वप्त-दोप के बाद चित्त-वृत्ति का यही

मनोवैज्ञानिक विश्लेपण है। कभी स्वप्न से उत्तेजना हो जाती है, कमी उत्तेजना से बुरा स्वप्त श्राने लगता है । उत्तेजना तया स्वप्त दोनों वीर्य-स्नाव से पहले होते हैं। यदि वीर्य-स्नाव न हो तो कोई ज़्यादह हानि नहीं होती। परन्तु यदि बुरे स्वप्न बढ़ने लगें तो अन्त में स्वप्त-दोप भी होकर ही रहता है, और यदि स्वप्त-दोप बढ़ने लगें तत्र तो नाजुक हालत आ पहुँचती है। बढ़ते-बढ़ते ऐसी अवस्था भी आ जाती है जब बिना उत्तेजना के ही वीर्य-स्नाव होने लगता है-- बुरा विचार मन में श्राते ही स्वप्न-दोप हो जाता है, उत्तेजना होने भी नहीं पाती ! वार-वार उत्तेजना होने का भंयंकर परिणाम उत्तेजना का मिट जाना होता है ! बस, इसी का नाम नषुँसकता है ! परन्तु इतने पर भी वंस नहीं होता। स्वप्त-दोप के रोगी के सन्मुख इस से भी भयंकर अवस्या आने वाली हेाती है। अब अनजाने, रात को स्वप्न में ही नहीं परन्तुं जागते हुए दिन को भी, उस का वीर्य स्विलित होने लगता है श्रीर वह वेचारा जीवन से निराश होकर दुःख की सिसिकियाँ भरता हुआ अपनी आत्मा से पूछता है:--- 'क्या मेरे मरने का कोई उपाय नहीं ?'

पहले-पहल स्वप्त-दोष का अनुभव कर वालक 'किंकर्तव्य-विमूढ़'-सा हो जाता है। वह ज्यों-ज्यों इसे रोकने की कोशिश करता है त्यों-त्यों इसे बढ़ते देख कर तो बहुत-ही घवरा जाता है। जब इस के कारण उसे अपने अन्दर कमज़ोरी के चिन्ह मंजकते दिखाई देने लगते हैं तब तो उस की चिन्ता चरम सीमा तक पहुँच जाती है। यदि वालक स्वभाव से धार्मिक प्रवृत्ति का है और सममता है कि उस ने जानते-बूमते कोई ऐसा काम नहीं किया जिस से उसे स्वप्त-दोष की शिकायत हो तब तो उस की चिन्ता सीमा को भी लाँघ जाती है। वह निस्सहाय अवस्था में चिछा पड़ता है:—'मेरी साधनाओं का क्या फल, मेरे उपवासों का क्या फ़ायदा ?' परन्तु उसे निराश होकर हिम्मत हार देने की अपेचा शिकायत के कारण का अनुसन्धान करना चाहिये। स्वास्थ्य के छोटे-छोटे नियमों के उछंघन से कई विषम समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिये, हम यहाँ स्वप्त-दोष के कारणों तथा उस की चिकित्सा पर कुछ विचार करेंगे।

कारण तथा चिकित्सा

जैसा पहले कई वार दोहराया जा चुका है, अनजाने वीर्य का नारा हो जाना रोग की अवस्था का सूचक है। पूर्ण-स्वस्थ प्ररूष में कुमारावस्था के आने पर भी वीर्य-कोश खाली ही रहने चाहियें क्योंकि उस समय शारीरिक तथा मानसिक विकास के लिये अन्तःस्नाव की अत्यन्त आवश्यकता होती है। परन्तु क्योंकि हम अस्वामाविक अवस्थाओं में जीवन यापन कर रहे हैं इसलिये आजकल बालकों में काम-भाव की जागृति बहुत छोटी आयु में हो जाती है, फलतः उन के वीर्य-कोश में छोटी आयु में ही वीर्य संचित होने लगता है, और छोटी आयु में ही वह नष्ट भी होने लगता है। यद्यपि वीर्य-नाश के भौतिक तथा मानसिक कारणों को पृयक्-पृथक् कर सकना असम्भव है तथापि विचार की सुगमता के लिये हम इन दोनों पर पृथक्-पृथक् ही विचार करेंगे, श्रीर कारणों के साथ-साथ चिकित्सा पर भी विचार करते जायँगे। स्वप्न-दोप के भौतिक-कारण ये हैं:—

भौतिक-कारण तथा चिकित्सा

(१) मोजन - कई लोग 'खाने के लिये जीते' हैं; जो सामने श्राया वही पेट में दूँस लेते हैं, ज़ुधा-निवृत्ति के लिये नहीं परन्तु जिह्वा के रस के लिये हर समय मुँह चलाते रहते हैं। जो खाया जाय, वह यदि सत्र पच जाय तो कोई बुराई नहीं, परन्तु ऐसा होता नहीं, भूल से ज़्यादह खाया ही जाता है। भोजन का जो भाग नहीं पचता वह पेट में सड़ने लगता है त्रौर सम्पूर्ण पाचन-प्रणाली में उथल-पुथल मचा देता है । पाचन-प्रणाली तया जनन-प्रणाली का त्रापस में गहरा सम्बन्ध है ; जब पहली में सड़ाँद पैदा होकर जलन उत्पन्न होती है तत्र दूसरी उस के असर से बची नहीं रह सकती। जत्र यह जलन जनन-प्रणाली में होती है तो उस से उत्तेजना होने लगती है, मनुष्य की मानसिक श्रवस्था विगड़ जाती है। इस जलन से ही सोते-सोते खप्त-दोष हो जाता है। अपचन से जनन-प्रणाली की जो दुरवस्था ज़रा लम्बे रास्ते से होती है वही मिर्च, मसाले, अचार, मिठाई, चाय, काफ़ी आदि से सीधी हाती है। इन का श्रसर सीधे तौर से उत्पादकं-श्रंगों पर होता है। इन के

खाने से कोई लाभ भी नहीं होता—केवल जिह्वां का एक प्रलोभन है। सायंकाल निजली की रोशनी में सजी हुई वाज़ार की मिठाईयों के ढेर को देख कर किस शौकीन की जीभ से लार नहीं टपक पड़ती। फ़ौरन जेब से पैसे निकल पड़ते हैं— सेंकड़ों मिक्लयों की सूदम विष्ठाओं से भरा हुआ दुष्पच शक्कर का ढेला पेट में पहुँच जाता है, उपर से सोडे की एक बोतल या चाय का एक प्याला गटक लिया जाता है। उस विहंगम से पूछो:—'क्या तुभे मूख़ लगी थी?' वह कहेगा—'नहीं, भूख तो नहीं लगी थी, परन्तु वह ऐसे नज़ारे को देख कर रक नहीं सका।' क्या कोई सोच सकता है कि इस प्रकार उच्छृंखल फिरते हुए युवक को प्रकृति ज्ञमा कर देगी? नहीं—कदापि नहीं!

इसलिये स्वप्त-दोप से बचने के लिये सब से पहली बात है भोजन पर ज्यान देना । दिन में दो बार, नियमित समयों पर, परिमित सात्विक भोजन करना सब को सीखना चाहिये । 'खाने के लिये जीने' के स्थान पर 'जीने के लिये खाना' चाहिये । जिह्वा से पूछने के स्थान पर खाने से पहले पेट की सलाह लेनी चाहिये । इस प्रकरण में जान-चूम्त कर मांस तथा शराब का ज़िक नहीं किया गया, क्योंकि मैं समम्तता हूँ कि इस पुस्तक के पढ़ने वाले इन घृणित पदार्थों को ब्रह्मचर्य्य जैसे पवित्र विचार के साथ जोड़ने की मूर्खता कभी नहीं करेंगे ।

(२) मूत्राशय तथा मलाशय का भरा होना— हमारां जीवन ऐसी श्रस्वाभाविक परिस्थितियों में बीतता है जिन से छोटी भागु में ही शुक्र-कोश में वीर्य सिब्चित होने लगता है। शुक्र-कोश के आमने-सामने मूत्राशय तया मलाशय हैं जिन दोनों के भर जाने से शुक्र-कोश पर द्वाव पड़ने लगता है। यदि सोने से पहले ज़्यादह खा-पी लिया जाय तो रात में मूत्राशय तया मलाशय के भर जाने के कारण शुक्र-कोश पर द्वाव पड़ कर शुक्र के निकल जाने की सम्भावना होती है। कभी-कभी शौच के समय ज्यादह द्वाव पड़ने से भी शुक्र निकल सकता है। इसी कारण कब्न से भी कभी-कभी यही दोष हो जाता है।

स्वप्त-दोष के रोगी को या तो सायंकाल का भोजन त्याग देना चाहिये, अन्यया अल्पाहार करना चाहिये। कई वालक सोने से पहले पानी या दूध पी लेते हैं, यह छोटी-सी बात ही कई वार स्वप्न-दोष का कारण हो जाती है। सोने से पूर्व पानी या दूध पीना छोड़ देने के छोटे-से संयम से कई वार वालकों की वड़ी-बड़ी चिन्ताएँ दूर हो सकती हैं। सोने से पहले लघु-शंका कर लेना बहुत अच्छा है। वीमारी बढ़ गई हो तो पेट साफ कर के सोना चाहिये। रात में एक वार उठ कर पेशाब कर लेना और भी अधिक उपयोगी है। सीधे लेट कर या छाती पर हाथ रख कर सोने से भी कई वार उपद्रव खड़े हो जाते हैं। पीठ के पीछं कपड़े की गाँठ वाँच लें तो सीधे लेटने से वचा जा सकता है।

(३) गन्दगी, खुजली और जलन—कभी-कभी मूत्राशय में गन्दे पदार्थ इकट्ठे हो कर उस में जलन पैदा कर देते हैं। यह जलन मूत्र-प्रणाली में से होती हुई शुक्र-कोश तक पहुँच जाती है जिस से स्वप्त-दोप होने लगता है । सात्विक भोजन तया चिरायता श्रादि रक्त-शोधक श्रौपिधयों के सेवन से मूत्र के जलन उत्पन्न करने वाले पदार्थ को दूर किया जा सकता है । कभी-कभी उत्पादक-श्रंगों में मैल इकट्ठा होता रहता है, जिस से खुजली श्रौर जलन दोनों उत्पन्न हो जाते हैं। इन का परिणाम हस्त-मेशुन तया स्वप्त-दोप दोनों हो सकते हैं, श्रतः सदा इन श्रंगों की सफ़ाई रखनी चाहिये। पेशाब की तथा जनने-निद्रय की घातक वीमारियों से भी स्वप्त-दोप हो जाता है।

(४) हस्त-मेशुन तया श्रातिमेशुन--यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि जिन कामों को जानते-बूभते वार-वार किया जाता है वे मनुष्य की श्रन्तरात्मा का भाग वन जाते हैं, श्रीर फिर, धीरे-धीरे, उन के करने में इच्छा-शक्ति के लगाने की श्रावश्यकता ही नहीं रहती। तभी तो श्रनजाने 'स्वप्र-दोप हो जाता है । यह स्वप्त-दोष, जो श्रनजाने सोते हुए होता है, कभी-कभी हस्त-मेथुन तया श्रतिमेथुन का ही परिणाम होता है। मैकफ़ेडन महोदय अपनी पुस्तक 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ फ़िज़िकल कल्चर' में लिखते हैं:-- 'यदि कोई व्यक्ति जिसे हस्त-मैथन की लत पड़ चुकी हो एकदम इस भादत को छोड़ दे तो उसे कुछ देर तक स्वप्त-दोप होने लगेंगे । उस का शरीर ज़बर्दस्ती वीर्य-साव का श्रादी हो चुका है। इसी प्रकार जिन्हें विवाहितावस्या में श्रत्य-विक विषय-भोग की लत-सी पड़ जाती है वे भी यदि इकले हो जायँ तो कुछ दिनों तक स्वध-दोप के शिकार रहते हैं । शरीर

को नई परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालने में कुछ देर लग ही जाती है।' अतः स्वप्त-दोप से बचने के लिये यह पहले अवश्यक है कि रोगी मनुष्य का सर्व-नाश कर देने वाली हस्त-मैथुन तथा अतिमैथुन की आदतों से भी बचे।

कमी-कभी जागते समय की अतृप्त अयवा द्वा-दी-गई कामेच्छा सोते समय अपना मार्ग बना लेती है। नव-युवकों को यह बात सदा के लिये गाँठ बाँघ रण्वनी चाहिये कि ऐसी कामेच्छा, जिसे जगा दिया हो परन्तु तृप्त न किया हो अथवा आधा तृप्त कर के ही छोड़ दिया हो, मनुष्य के स्नायु-तन्तुओं को ऐसा धका पहुँचाती है जो हस्त-मेथुन तथा अतिमेथुन से भी अधिक घातक होता है। परन्तु इस का यह अभिप्राय नहीं कि पिछले दोनों अच्छे हैं—इन के घातक पारेणामों पर तो पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है। वह अतृप्त कामेच्छा मस्तिष्क में एक बार प्रविष्ट हो कर स्नायु-तन्तुओं में घोर संग्राम मचा देती है। ऐसी इच्छा जो तृप्त नहीं की जा सकती या अच्छी तरह से तृप्त नहीं की जा सकती या अच्छी तरह से तृप्त नहीं की जा सकती उत्पन्न ही नहीं होने देनी चाहिये, यही बुद्धिमत्ता है।

जिन्हें जागते समय हस्त-मैथुन की आदत होती है वे सोते समय भी इस से नहीं वचते । डा॰ एलबर्ट मौल 'सैचुअल लाइफ़ ऑफ़ ए चाइल्ड' में लिखते हैं:— 'सोते-सोते बच्चे हाय से जनने-न्द्रिय का अनजाने संचालन करने लगते हैं। कई स्पष्ट उदाहरण इस प्रकार के सामने आये हैं जिन में निश्चय हो गया कि व्यक्ति जाग नहीं रहा, सो रहा है, श्रोर सोते हुए श्रनजाने हस्त-मैथुन कर रहा है। मैंने कई वार सारी रात जाग कर कई बच्चों का निरीज्ञिश किया है श्रोर में इसी परिशाम पर पहुँचा हूँ कि कई वार सोता हुआ वालक हार्यों को गुख-श्रंगों की तरफ़ ले जाता है।—इस व्याधि से वचने के लिये जहाँ जागृतावस्या में हस्त-मैथुन से वचना चाहिये वहाँ सोतं हुए हार्यों को एक ख़ास दिशा में बाँध रखना चाहिये जिस से वे नीचे को न जा सकें।

- (५) कमज़ोरी कभी-कभी स्तम्भन-शक्ति के न होने से भी स्वप्त-दोप हो जाता है। उचित व्यायाम से ही कमज़ोरी दूर हो सकती है। संसार की सारी द्वाइयाँ मिल कर उस का आधा भी गुण नहीं कर सकतीं जितना ब्रह्मचर्य्य के अनुसार सादा जीवन कर सकता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के विषय में उन की वैध्यक्तिक कठिनाइयाँ तथा जीवन-घटनाओं को जान कर ही कुछ कहा जा सकता है। फिर भी लोगों का द्वाइयों पर विश्वास है ही। इसलिये साधारण तौर पर यहाँ कुछ द्वाइयों का उल्लेख किया जाता है जो ब्रह्मचर्य्य में सहायक हो सकती हैं: —
- i. वट का ताज़ा दूध, १६ बूँट, एक महीन तक वतासे में डाल कर प्रातःकाल खाली पेट नियम-पूर्वक खाना ।
- ii. सफ़ेद मुसली, कवाव चीनी, गिलोय का सत—तीनों को समान भाग ले कर चूर्ण बना लेना । आँवलों को पानी में भिगो कर, द्वान कर, श्रोपिध की ६ रत्ती मात्रा उस पानी के साय प्रातःकाल लेना ।

ां।. दूर्वा घास, मौलतरी के फलों की गुटली, श्रावलाँ, कर्पूर —इन्हें समभाग लेकर पुराने गुड़ के साथ मिला कर छोटे वेर के समान गोलियाँ बना ले भीर सोने से पहले ठएडे जल के साथ एक गोली खा ले।

iv. सफ़ेद मुसली १२ रत्ती, नायफल ४ रत्ती, श्राँवला १२ रत्ती—इन को मक्खन तथा मिस्री के साथ मिला कर खाये।

v. कीकर की गोंद २ तोला, रूमी मस्तकी १ तोला, आँवला २ तोला, कर्पूर ३ माशा—इन्हें घीकार के रस में मर्दन कर के घूप में सुखा ले। फिर घीकार के रस में मर्दन कर के सुखाये। दो-तीन वार ऐसा कर के चूर्ण कर के रख ले। प्रातः-काल १॥ माशा मक्खन और मिली के साथ सेवन करे।

मानसिक-कारण तथा चिकित्सा

स्वप्त-दोष के जिन भौतिक कारणों का उल्लेख किया जा चुका है उन के अतिरिक्त इस के मानसिक कारण भी हैं। थके हुए आदमी को स्वप्त नहीं सताते। सोने से पहले खूब व्यायाम कर के जो लोग यक कर सोते हैं उन्हें स्वप्त-दोष नहीं होता क्योंकि उन्हें स्वप्न ही नहीं आता। स्वप्न-रहित निद्रा का ला सकना स्वप्न-दोष का सब से बढ़िया इलाज है। हम प्राय: यू ही विस्तर पर लेट जाते हैं, चाहे नींद आ रही हो, या न आ रही हो, और यदि नींद उचट गई हो तो भी यूँ ही पड़े-पड़े करवटें बदलते रहते हैं। जीवन के वे ज्ञाण विरले होते हैं जब हमें गाढ़ निद्रा त्राती हो ! बहुत-सा समय तो त्रिस्तर में पड़े-पड़े ही गुज़र जाता है। मध्य-रात्रि के समय प्रगाढ़ निद्रा श्राती है, उस समय स्वप्न भी नहीं आते । यदि कोई तभी तक सोए जब तक गाढ़ी नींद त्राती हे। त्रौर नींद टूट जाने पर बिस्तर छोड़ उठ बैठे तो उसे स्वप्त-दोष का डर नहीं रहेगा । खूब व्यायाम कर के, शरीर को थका कर, बिस्तर पर पाँव रखो, श्रौर नींद टूटते ही उसे छोड़ अलग हो जांत्रो । गाढ़ी नींद आने से पहले श्रीर पीछे दो श्रवसर हैं जिन की ताक में शैतान हर समय श्राँख लगाये वैठा रहता है। उस समय मनुष्य न जाग ही रहा होता है, न सो ही रहा होता है, ना ही उस समय वह अपने कावू में होता है। ऐसी अवस्या में ही पैशाचिक भाव चोरी से मन में प्रविष्ट होते हैं-प्रविष्ट क्या होते हैं, मन में जाग जाते हैं। वस, उस समय स्वप्न आने लगते हैं--भयंकर स्वप्न-कामुकता के स्वप्न-- उत्तेनना-पूर्ण स्वप्न-चिन्ता-पूर्ण स्वप्न - श्रीर उन स्वप्तों के साथ ही ब्रात्म-ग्लानि उत्पन्न करने वाले स्वप्न-दोष !

मनुष्य का मन, यदि जाग रहा हो तो, ख़ाली नहीं रह सकता। वह कुछ-न-कुछ अवश्य करेगा। बिना नींद के बिस्तर पर पड़ जाने का क्या परिखाम होगा ? नींद तो आयी नहीं; पड़े हुए कुछ काम भी नहीं; परन्तु मन को कुछ काम ज़रूर चाहिये! बस, मन सपने लेने शुरू करता है। सब स्वप्तों से मनुष्य को हानि नहीं पहुँचती। कई स्वप्त तो बड़े मज़ेदार होते हैं। कई स्वप्तों से भविष्य की छिपी कोठरी की भाँकी भी मिल जाती है। परन्तु उन स्वर्शों से हमें यहाँ मतलव नहीं। हमें तो उन्हीं स्वर्शों से मतलव है जो स्वय्न-दोप का कारण होते हैं। ऐसे स्वय्न दो प्रकार के होते हैं:—कामुकता के स्वय्न श्रीर चिन्ता उत्पन्न करने वाले स्वय्न।

(१) कामुकता के स्वप्त-ऐसे स्वप्त मन की आधी जागती, त्राधी सोती अवस्था में आते हैं। ऐसी अवस्था दिन में भी ं त्राती है, रात में भी । दिन में मनुष्य कुर्सी पर पड़ा-पड़ा ऊँवा करता है, और यह ऊँचना स्वप्नमय होता है ; रात को विस्तर पर लेटे-लेटे कामुकता के विचारों में खेलने लगता है। दिन को तो ये स्वप्न प्रायः लगातार चलते हैं, रात को टूट-टूट कर श्राते हैं । लगातार चलने वाले स्वप्न एक दिन एक जगह समाप्त होकर अगले दिन फिर आगे चल पड़ते हैं। स्वप्न लेने वाले के ध्यान में कोई प्रेमी होता है, उसी को लज्य में रख कर स्वप्त चलता रहता है । प्रतिदिन वीर्य-माव अयवा अन्य किसी त्राकिसक घटना से यह ऊँघ टूटती है। त्रसम्बद्ध-से, टूटे हुए-से, श्रीर श्रचानक उपन नाने वाले स्वप्न भी दिन को श्राते हैं, परन्तु प्रायः वे रात को ज्यादह त्राते हैं। रात को सोते हुए अचानक ही कोई स्वप्न त्राने लगता है, त्रौर स्वप्न-दोप होते भी देर नहीं लगती । स्वप्न का मसाला मन को जागती अवस्था से ही मिलता है। जो विचार तथा त्रजुभव दिन को हुए होते हैं वे ही नया-नया रूप धारण कर सोते समय मनुष्य के सामने आ खड़े होते हैं। इन खप्नों का आधार प्रायः जागृतावस्या में मिल ही जाता है।

(२) चिन्ता उत्पन्न करने वाले स्वप्न-चिन्ता का ग्रमि-प्राय है वेचैनी, और वेचैनी से सारा स्नायु-समुदाय तना रहता है। यह समभाना कि कामुकता के गन्दे स्वप्नों से ही स्वप्न-दोष हो सकता है, भूल है। चिन्ता-प्रस्त रहने से प्रायः स्वप्न-दोष हो जाता है और इस का स्वास्थ्य पर अत्यन्त बुरा असर होता है, क्योंकि चिन्ता से एक तरफ़ स्नायु-मगडल का हास होता है चौर वीर्य-नाश से दूसरी तरफ जीविनी-शक्ति का हास होता है। डा॰ मौल का कथन है:--- 'चिन्ता से तो स्वप्त-दोष होता ही है, पंरेन्तु कई वार स्वप्त में भी कोई चिन्ता-जनक स्वप्त त्राने लगे तो उस से भी स्वप्न-दोष की आशंका हो जाती है। कई वार ऐसा स्वम त्राने लगता है कि डाकू या हिंस पशु पीछा कर रहे हैं, . त्रोर जब भय का भाव चारों तरफ़ से त्राकान्त कर लेता है तो स्वप्त-दोप हो जाता है। कई वार स्वप्त में गाड़ी पकड़ने लगते हैं, श्रोर स्टेशन पर पहुँचते ही गाड़ी छूट जाती है, इस से भी स्वय-दोष हो जाता है।' श्रमिप्राय यह है कि किसी प्रकार के भी खायु-मगडल के तनाव से स्वप्न-दोष हो सकता है। बहुत खाने से, न खाने से ; बहुत थक जाने से, बिल्कुल हाय-पैर न हिलाने से ; काम से, क्रोध से, लोभ से, मोह से, भय से, चिन्ता से-इन सब की त्राति से स्नायु-समुदाय तन जाता है और उस का .परिगाम, स्वप्न-दोष हो जाता है!

इस प्रकार के मानसिक कारणों से स्वप्न-दोष का शरीर पर अत्यन्त धातक परिणाम होता है। डाक्टर फुट लिखते हैं:---

"पुरुषों तया स्त्रियों, दोनों को, स्वप्न-दोप होता है और दोनों को ही इस से अत्यन्त हानि पहुँचती है। यद्यपि स्त्री का स्वप्न-होष में वीर्य जैसा कोई तत्त्र स्नवित नहीं होता तयापि उस की स्नाय-शक्ति का भारी हास होता है। कामुकता का स्वप्न एक प्रकार का अनजाने हस्त-मैथुन ही है। कहा जाता है कि कोई व्यायाम इतना यकाने वाला नहीं जितना शून्य में हाय चलाना या शून्य में पाँव मारना । सीढ़ियों के नीचे उतरते हुए यदि मालूम न हो कि एक डएडा ब्रीर नीचे उतरना है तो पाँव नीचे ्ते जाते ही शरीर को कितना धका पहुँचता है-यदि पहले ही मालूम होता कि नीचे डएड़ा नहीं है तो पाँव उस के लिये तय्यार होकर नीचे जाता और ज़रा-सा भी धका न लगता। शरीर 'के लिये जैसे यह धका है, स्नायु-मण्डल के लिये वैसे ही कामुकता का स्वम है। शरीर के अंग्-अंग में से स्नायु-शक्ति एकत्र होकर वड़े वेग से एक ऐसे व्यक्ति के आर्लिंगन में ख़गती है जिस की सत्ता ही नहीं! वह शक्ति स्वप्तःदोप के .रूप में निकल ज़ाती है, पर्न्तु उस की प्रतीकारक शक्ति दूसरे ज्यक्तिकी तरफ़ से नहीं मिलती, क्योंकि उस की सत्ता तो काल्पनिक ही है ! स्नायु-शक्ति का यह द्वास, और स्नायु-शक्ति को यह घका ऐसा भयंकर होता है जो यदि कई वार दोहराया जाता रहे तो मनुष्य को सर्वया शक्ति-हीन वना दे, स्मृति-प्राक्ति का सर्वनाश कर दे और मानसिक-शक्ति को कमज़ोर सना दे ।!!

यदि जागत हुए काम-भाव के विचारों को मन में स्थान दिया नायगा तो सोते समय वे अवश्य मन को घेरे रहेंगे। कल्पना के सम्पर्क से उन की घातक शक्ति भी बहुत बढ़ जायगी क्योंकि वह तो विचार रूपी कुपिटत-कुठार पर धार लगा देती है। जागत हुए मुख से निकला हुआ एक भी अश्ठील शब्द स्वप्नावस्था में श्रनंक श्रपवित्र स्पृतियों को जगा सकता है। इसलिये जागृतावस्या में ही श्रिधिक सावधान रहने की जुरूरत है। जो लोग जागत समय मन को गढ़ों में नहीं गिरने देते वे सोते समय भी. वचे रहते हैं। गन्दे उपन्यास पढ़ने से, पतित साथियों के साथ मिलन-जुलने से, खाली रहने से, मनको स्वप्नावस्था के लिये काफ़ी गन्दा मसाला मिल जाता है। ऐसे मसाले को पाकर फिर मन उसे छोड़ना भी नहीं चाहता । जो कामुकता के स्वप्नों से बचना चाहे वह यदि दिन के समय श्रपनी विचार-शुंखला पर ध्यान देता रहे, बुरे विचारों को मन में न ब्राने दे, तो रात को स्वयं वचा रहेगा। परन्तु विचारों को कामुकता की तरफ़ से वचा लेना ही पर्याप्त नहीं है-विचारों का सशक्त होना उस से भी ज्यादह श्रावश्यक है। कई लोग, जो काम-स्वर्धों से भ्यभीत रहते हैं, धवरा उटते हैं, व जितना वचने की कोशिश करते हैं उतना ही इस के शिकार होते जाते हैं। इस का कारण मुख्यतः उन का भयः ही होता है। भय विचार-शक्ति को सशक्त होने के स्थान पर, श्रशक्त वना देता है । विचार-शक्ति को दुर्वल कभी न होने देना चाहिये । स्वप्त-दोप होना बुरा है, परन्तु उन्हें देख कर धनरां

उठना और भी बुरा है । घत्रराने से उन की संख्या घटने के स्थान पर बढ़ती है । ऐसे व्यक्तियों को मोलिनोस के निम्न शब्द जिन्हें विलियम जेम्स महोदय ने 'वैराइटीज़ ब्रॉफ रिलिजियस एक्सपीरियन्स' में उद्धृत किया है, सदा स्मरण रखने चाहियें:—

''यदि तुभा से कोई अपराध हो जाय, चाहे वह कैसा हीं क्यों न हो, तो उसे सोच-सोच कर दुःखी मत हुआ कर । अपराध तो मनुष्य से हुआ ही करते हैं। क्योंकि तू एक-दो वार गिर गया है इसका यह अभिप्राय नहीं कि तू सदा गिरता ही चला जायगा, ईश्वर की तरफ़ से सदा दुतकारा ही जायगा । ऐ श्रमृत-पुत्र ! श्राँखें खोल, श्रौर श्रपनी गिरावट के विचारों पर पर्दा डाल कर ईश्वर की द्या पर भरोसा रख । क्या वह चेवकूफ न होगा जो किसी सान्मुख्य में तेज़ दौड़ता हुआ यदि बीच में गिर पड़े तो बैठ कर अपने गिरने पर ही अश्रु-धारा वहाने लगे १ बुद्धिमान् लोग उसे यही कहेंगे, ऐ खिलाड़ी ! समय मत खो, उठ,—उठ कर फिर भागना शुरू कर, क्योंकि जो गिर कर उठ खड़ा होता श्रीर फिर फ़ौरन भागने लगता है वह तो ऐसा है मानो कभी गिरा ही न हो ! तू एक वार क्या, हज़ारों वार भी क्यों न गिर जाय, घवरा कभी मत ; जो श्रीषघ तुभे दी है इसे गाँठ वाँघें रख, ईश्वर पर भरोसा कर । इस शस्त्र से तू कई श्रखांडे मार लेगा और दिल की कमज़ोरी पर विजय प्राप्त करेगा।"

त्रपनी कमजोरियों को ही सदा मत सोचते रहो। संकल्प को दृढ़ तथा सराक्त बनाओ। बुरी परिस्थितियों से बचो। सोने से पहले अच्छे भनन गाओ, वेद-मन्त्र पढ़ो, उत्तम पुस्तकों का पाट करों; देखोंगे कि बुरे खप्नों की जगह अच्छे खप्न आने लगते हैं। खप्नों की समस्या से निकलने का इस से उत्तम दूसरा उपाय क्या हो सकता है। इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व में टा॰ कोवन की निम्न-लिखित सलाह के उद्धृत करने के प्रलोभन का संवरण नहीं कर सकता। वे लिखते हैं:—

"प्रत्येक च्यक्ति जिसने श्रपनी इच्छा-शक्ति का सर्वयां संहार नशें कर दिया कम-से-क्रम जागृतावस्या में श्रपने विचारों को घन्छी प्रकार वश में कर सकता है, उन्हें पिवत्र रख सकता है। यदि वह गिरता है, पाप करता है, तो जानंत-बूभतंत! निम प्रकार यह जागत हुए अपने विचारों को पवित्र रख सकता है उसी प्रकार मोने हुए भी रख मकना कठिन नहीं है। साथ-ही प्रत्येक का कर्तत्र्य है कि सोन-जागत सदा विचारों को पवित्र राँव । लोग कहते हैं कि व स्वप्नों को वश में नहीं कर सकते । यह वात भ्रम-मूलक है। मनुप्य के मन में जागत हुए जो विचार श्रात हैं उन का स्वप्नों से श्रत्यन्त यनिष्ट सम्बन्ध है । नागती हालन में निन्हें 'वित्रार' कहते हैं, सोती हालत में उन्हीं को 'स्वम' कहते हैं। श्रतः यह स्वाभाविक है कि यदि मनुष्य न जागृतावस्या में श्रपने विचारों को श्रश्ठीलता तथा श्रपवित्रता की -तरफ जाने दिया है तो रात को भी मन वैसे ही विचारों से भर जाता है-- स्वप्नावस्या के विचार तो जागृतावस्या के विचारों के फल हैं- शौर इसीलिये यदि दिन का समय गन्दे विचारों में

बीता हा, कामोद्दीपन हा चुका है। तो रात को स्वप्न-दोप हा ही जाता है। यदि जागते हुए हम ने कुवासनाओं को द्वाने के लिये इच्छा-शक्ति का कोई उपयोग नहीं किया तो हम कैसे आशा कर सकते हैं कि:सोते समय जब पैशाचिक-भाव त्र्या घेरेंगे तब हृद्य से 'नकार' निकल पड़ेगी १ इच्छा-राक्ति सोते समय हमें गिरने से जतना ही बचा सकती है जितना वह हमें जागते समय-वचा चुक़ी है-उस से ज्यादह नहीं। एक उच-स्थिति का इटैलियन जिसे स्वप्न-दोप से बहुत परेशानी हो चुकी थी लिखता है कि जब श्रौर कोई चारा न रहा तो श्रन्त में उस ने हुद् संकल्प कर लिया कि श्रागे से जब भी कोई श्रपवित्र विचार उस के मन में प्रविष्ट होने लगेगा, वह नाग नायगा । इस आदृत का उस ने दिन को खूब अभ्यास किया। जब कभी कोई अश्लील विचार उस के मन में आने लगता, वह एकदम चौंक उठता । सोने से पूर्व वह यही विचार कई वार दोहरा कर सोता, सारी संकल्प-शक्ति इसी विचार में लगा देता। इस का वड़ा उत्तम परिणाम निकला । 'बुरा विचार एक वड़ा भारी ख़तरा है'—यह भावना उस के हृद्य में इतना यर कर गई कि सोते समय भी वह उस की चेतना का श्रंग वनी रहती और मन के ज़रा-सा इधर-उधर भकटते ही वह उठ वैठता। इस श्रम्यास से उसे बहुत लाभ पहुँचा श्रीर स्वप्त-दोष से वह सर्वया वच गया।"

एका दश स्थारी

[वीर्य क्या है १- उस की महत्ता !]

काचार्य उपनयमानी प्रधानारिणं कृणुने गर्भमन्तः । तं राम्रोस्तिस्र उद्दे विभित्तं तं जातं द्रण्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

प्रथयं वेदः

कठिन कार्य है। इस की रक्ता की चिन्ता योगियों की उनिद्र शांखों में, अप्रियों के चहरों की अर्ियों में श्रीर वहाचारियों की नियन्त्रित दिन-चर्या में किसे नहीं दीख पड़ती के मूर्ख लोग भले-ही जीवन-शक्ति के रहस्य को न समभते हुए उन्दे मार्ग पर चलें परन्तु सममदार लोग वीर्य-रक्ता को जीवन का लक्य-विन्दु जानते हैं। इस हिमाद्रि-सम-कठिन दुख्ह कार्य में तत्व-ज्ञानियों के चिन्तित रहने का मुख्य कारण यह है कि शरीर के सार श्रंश को श्रन्दर-ही-श्रन्दर खपा लेने से विद्या श्रीर बल की सतत वृद्धि होती है, वीर्य-नाश से मनुष्य का चौमुखा हास होता है! वीर्य-रक्षा बड़े महत्व का कार्य है।

वीर्य-रज्ञा के महत्व को समभाने के लिये — 'वीर्य क्यां पत्तु है' — इस बात को समभा लेना आवश्यक है। हम यहाँ

पर भारतीय-त्रायुर्वेद तथा पाश्चात्य-त्रायुर्विज्ञान, दोनों के वीर्य-विषयक मुख्य-मुख्य विचारों का उल्लेख करेंगे ताकि हमारे पाठक इस विषय को भली प्रकार समम्म सकें।

१. भारतीय-श्रायुर्वेद

'श्रष्टांग-हृद्य', शारीर स्यान, श्रष्ट्याय ३, श्रोक ६ में लिखा है:—

भोजन किये हुए पदार्थ से पहले रस वनता है। रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस से मेद, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से वीर्य; —वीर्य अन्तिम धातु है। मेशीन में इस के वनने का दर्जी सातवाँ है। इस के वनाने में, शरीर को, जीवन के लिये आवश्यक अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा अधिक मेहनत करनी पड़ती है। रस की अपेक्षा रक्त में तत्व-भाग अधिक है। उत्तरोत्तर सार-भाग बढ़ता ही जाता है। शरीर की भौतिक शक्तियों का अन्तिम सार वीर्य है। थोड़े-से वीर्य को बनाने के लिये रक्त की पर्याप्त मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। किंचिन्मात्र वीर्य का नष्ट हो जाना अत्यधिक रुधिर के नष्ट हो जाने के बरावर है। आयुर्वेद के इस सिद्धान्त को अनेक पाधात्य-पिहतों ने भी मुक्त-कराट से स्वीकार किया है। डा० कोवन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि सायन्स ऑफ़ ए न्यू लाइफ़' के १०६ पृष्ठ पर लिखा है:—

"शरीर के किसी भाग में से यदि ४० श्रोंस रुधिर निकाल लिया जाय तो वह एक श्रोंस वीर्य के बराबर होता है—श्रर्थात् ४० श्रोंस रुधिर से एक श्रोंस वीर्य बनता है।"

श्रमेरिका के प्रसिद्ध शरीर-वृद्धि-शास्त्रज्ञ, मैकफ़ेडन महोद्य ने श्रपनी पुस्तक 'मैनहुड एएड मेरेज' में इसी विचार को प्रकट किया है। 'एनसाइक्षोपीडिया श्रॉफ़ फ़िज़िकल कल्चर' के २००२ पृष्ठ पर वे लिखते हैं:—

''कई विद्वानों के कयनात्तसार ४० श्रोंस रुधिर से १ श्रोंस वीर्य बनता है परन्तु कुछ-एक विद्वानों का कथन है कि १ श्रोंस वीर्य की शक्ति ६० श्रोंस रुधिर के वरावर है।"

सम्भवतः इस विषय में पूरा-पूरा हिसाव न हो सकता हो,
तयापि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि योड़े-से
भी वीर्य को उत्पन्न करने के लिये रक्त की बहुत अधिक मात्रा
एवर्च होती है। भारतवर्ष में तो यह चर्चा सर्व-साधारण तक में पाई
जाती है। यहाँ हर-कोई जानता है कि वीर्य के बनने में उस से
४०,५० या ६० गुना रुधिर काम में आ जाता है। पाश्चात्य लोगों
में यह विचार हाल-ही में उत्पन्न हुआ है। मूलतः, यह भारतीय
आयुर्वेद का विचार है। जब रुधिर में शरीर को जीवित या मृत
बना देन की शक्ति है तब वीर्य में—जो रुधिर का सार-भाग है
—वह शक्ति अप्रत्याख्यात रूप से कई गुनी होनी ही चाहिये।

श्रायुर्वेद का कथन है कि रुधिर से वीर्य की श्रवस्था तक पहुँचने में उपर्युक्त सात मंज़िलें तय करनी पड़ती हैं। इन का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है; अन्त में रक्त से वीर्य किस प्रकार वन जाता है—इस विषय पर आयुर्वेद की दृष्टि से अभी तक पूरा-पूरा अनुसन्धान नहीं हुआ। आयुर्वेद से हमें इतना अवस्य पता चलता है कि रुधिर को वीर्य बनने के लिये बड़े लम्बे-चौड़े सात फेरों वाले रास्ते में से गुज़रना पड़ता है। रक्त का सार-भाग बनते-बनते अन्त में वीर्य बनता है।

त्रायुर्वेद के अनुसार वीर्य का स्थान सम्पूर्ण शरीर है। हृद्य में विकार उपस्थित होने पर वीर्य शरीर में से मथा जाकर अगडकोशों द्वारा प्रकट रूप में उत्पन्न हो जाता है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए 'भाव-प्रकाश'-कार लिखते हैं:—

> "यथा पयसि सिपंस्तु ग्हरूचेक्षौ यथा रसः। एवं हि सक्छे काये शुक्तं तिष्ठति देहिनाम्॥ २४०॥ इत्स्वदेहिष्टितं शुक्तं प्रसन्नमनसस्तथा। स्त्रीषु व्यायच्छतरुचापि हर्पात्तःसंप्रवर्तते॥ २४२॥॥

श्रयीत्, जिस प्रकार दूध को मयने से घी निकल श्राता है उसी प्रकार बहु-वीर्य वाले देह को भी मयने से वीर्य निकल श्राता है; जिस प्रकार ईख को पेरने से रस निकलता है उसी प्रकार श्रव्य-वीर्य वाले प्रका के शरीर में से भी, श्रत्यन्त मथन करने से, वीर्य प्राप्त होता है। सम्पूर्ण शरीर में रहने वाला वीर्य मानसिक प्रसन्नता तथा सम्भोग के समय प्रवृत्त होता है। इस प्रकार भारतीय-श्रागुवेंद के श्रवसार वीर्य का स्थान सम्पूर्ण शरीर है, केवल श्रग्ड-कोश नहीं।

२. पारचात्य-त्रायुर्विज्ञान

पाइनात्य-श्रायुर्विज्ञान के पिएडत वीर्य को सात धातुश्रों का सार नहीं मानते। उन के कपनानुसार वीर्य सीधा रक्त से उत्पन्न होता है—उसे सात मंजि़लों में से गुज़रने की श्रावश्यकता नहीं होती। वे लोग वीर्य को सम्पूर्ण-शरीरस्य नहीं मानते। उन का कथन है कि मनोविकार उपस्थित होने पर श्रगड-कोश श्रपनी क्रिया द्वारा एक द्रव उत्पन्न करते हैं। यही द्रव 'उत्पादक-वीर्य' है। जिस प्रकार उत्तेजक पदार्थ के सन्मुख श्राने पर श्राज़ों से श्रास्त्र तथा मुख से लार टपकती है उसी प्रकार श्रगड-कोशों की प्रान्थियों (ग्लेंड्स) में से वीर्य निकलता है।

नेसा पहले लिखा ना चुका है, अग्र छ-कोशों में से दो प्रकार का रस उत्पन्न होता है। एक भीतरी, दूसरा वाहरी। भीतरी को 'इन्टरनल सिक्तीशन'—अन्तः स्नाव—तया वाहरी को 'एक्सटरनल सिक्तीशन'—बहिः साव—कहते हैं। अन्तः साव हर समय अग्र ड-कोशों से होता रणता है और शरीर में अन्दर-ही-अन्दर खपता रहता है। यह रस सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर आँखों को तेज, मुख को कान्ति तथा अंग-प्रत्यंग को खुडौलपन देता है। चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था में बालक के शरीर में जो अचानक परिवर्तन देख पड़ते हैं उन का कारण अन्तः साव का भीतर-ही-भीतर खप जाना है। जिन प्राणियों के अग्र ड-कोश निकाल दिये जाते हैं वे किया-शून्य तथा स्कृति-हीन हो जाते हैं। गोड़े,

वैल तथा वकरों को देख कर यह वात श्रामानी में समभ में श्रा जाती है। मनुष्यों में भी जिन के श्रगड-कोश निकाल दिये जायँ वे निस्तेज तथा निर्वीर्ध हो जाते हैं। उन का हींजड़ों का-सा हाल हो जाता है। वे किसी प्रकार के शारीरिक श्रथवा मानसिक काम के नहीं रहते।

बिहःसूब के विषय में पाश्चात्यों का यह कथन है कि इस में शुक्र-कीटागुओं के साय-साय जनन-प्रदेश के अन्य अनेक स्यानों से उत्पन्न हुए द्रव भी मिल जाते हैं । शुक्र-कीटासु (स्पर्में टोज़ोत्रा) तथा उन द्वों के मेल का नाम ही वीर्य (सीमन) है। शुक्र-कीटासुओं की उत्पत्ति अराउ-कोशों से होती है श्रीर वे ही संतानोत्पत्ति के कारण हैं। जिस पुरुष के वीर्य में ये जीवासु नहीं होते वह नपुँसक कहलाता है। शरान, तम्त्राकू, नाय, काफ़ी, अफ़ीम आदि पदार्थों के सेवन से ये कीटासा किया-हीन हो जाते हैं अतः उत्पादन-शक्ति को स्थिर रखने के लिये इन का त्याग ही सर्वोत्तम उपाय है । शरीर से वाहर न निकलने पर शुक्र-कीटाग्रु शरीर में खप जाते हैं या नहीं, इस विषय में विद्वानों में सम्पति-भेद है, परन्तु डा० कोवन तथा अन्य अनेक परिडतों का मत है कि यदि इन जीवागुआं को कुविचारों तया कुकर्मों द्वारा शरीर से बाहर न फेंक दिया जाय तो वही जीवासा जो नये जीवन को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखते हैं शरीर में ख़प कर व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक वल को अद्भुत रूप से वढ़ा सकते हैं। डा॰ गार्डनर महोदय का कथन है कि—''वीर्य-

कीटाग्रु रुधिर का सार-तम भाग है। प्रकृति ने इसे जीवन-दातु-शक्ति ही नहीं दी परन्तु इस में वैय्यक्तिक जीवन को समृद्ध करने का जादू भी भर दिया है। इस में तिनक भी सन्देह नहीं कि शुक्र-कीटाग्रु के शरीर में खप जाने से सम्पूर्ण देह में सञ्जीवनी-शक्ति का सञ्चार हो जाता है।"

मनुष्य के शरीर की रचना को जानने वाले सभी विद्वान् एकमत होकर मानते हैं कि भीतरी अथवा वाहरी किसी भी वीर्य-शक्ति का हास मनुष्य की वृद्धि के लिए अत्यन्त हानिकर है। शारीरिक, मानसिक तया आत्मिक उन्नति के लिए आत्म-संयम द्वारा वीर्य-स्तम्भन अत्यन्त आवश्यक है।

तु ल ना

वीर्य के सम्बन्ध में पूर्वीय तया पाश्चात्य विद्वानों की सम्म-तियों का उल्लेख करते हुए उन की तुलना पर विचार करना वड़ा रोचक विपय है 1 सामान्य-दृष्टि से विचार करने पर दोनों में निम्न-लिखित मोटे-मोटे भेद प्रतीत होते हैं:—

भेद्

- १. श्रायुर्वेद में वीर्य सात वातुश्रों के क्रम से तथा पाश्चात्य श्रायुर्विज्ञान के श्रनुसार सीधा रक्त से बनता है।
- २. श्रायुवेंद्र वीर्य को सम्पूर्ण शरीरस्य मानता है ; पाश्चात्य लोग इसे श्रग्रह-कोशों द्वारा उत्पन्न हुत्रा मानते हैं।

- पाश्चात्य त्रायुर्विज्ञान में वीर्य के दो रूप, अन्तःस्राव (इन्टरनल सिकीशन) तया बिहःस्राव (एक्सटरनल सिकीशन) रूपष्ट रूप से माने गये हैं; अायुर्वेद में यह भेद नहीं दील पड़ता।
- ४. पाश्चात्य-विज्ञान में शुक्र-कीटाग्रु, (स्पर्मेंटोज़ोक्रा) की परिभाषा पाई जाती है। शुक्र-कीटाग्रु 'उत्पादक-वीर्य' का नाम है। ब्रायुर्वेद में उत्पादक-वीर्य को 'कीटाग्रु-विशेप' नहीं माना गया। उन के मत में शुक्र ही से जीवन की उत्पत्ति होती है।

साधारण बुद्धि द्वारा पूर्वीय तया पाश्चात्य विचारों में वीर्य के सम्बन्ध में यही चार मोटे-मोटे मेद दीख पड़ते हैं । हमारी सम्मित में सूच्म-दृष्टि से विचार करने पर इन भेदों का बहुत सा श्रंश ज्ञुप्त होकर दोनों विचारों में अनेक समानताएँ दृष्टि-गोचर होने खुगती हैं।

समानताएँ

१. निस्तन्देह आयुर्वेद विध को सात धातुओं में से गुज़र कर बना हुआ मानता है परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि आयुर्वेद के कई प्रन्यों में वीर्य के सात धातुओं में से गुज़र कर बनने के सिद्धान्त को नहीं भी माना गया। वे यही मानते हैं कि 'केदार-कुल्या-न्याय' से रुधिर ही शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को भिन्न-भिन्न रस देता जाता है। जैसे बग़ीचे में पानी सब जगह बहता है और उस में से भिन्न-भिन्न बुद्ध भिन्न-भिन्न रस खींच लेते हैं इसी प्रकार रुधिर भी अंग-प्रत्यंग को सींचता हुआ सम्पूर्ण शरीर

को प्रष्ट करता है। जन रुधिर अगड-कोशों में पहुँचता है तन वे रुधिर में से वीर्य खींच लेते हैं। यह विचार अज्ञरशः पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान के विचार के साथ मिलता है परन्तु निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि यही विचार ठीक है।

- २. श्रायुवंद वीर्य को सम्पूर्ण शरीरस्य मानता है; पाश्चात्य-विज्ञान इसे अगड-कोशों द्वारा जनित मानता है। कईयों के कयनानुसार, वीर्योत्पत्ति में यह स्थान-सम्बन्धी भेद है। परन्तु यह भेद वास्तविक भेद नहीं। पाश्चात्य पिएडत यह नहीं मानते कि वीर्य अगड-कोशों में रहता है, वे यही मानते हैं कि वीर्य के उत्पत्ति-स्थान अगड-कोश हैं। मनोमन्थन के बाद वीर्य अगड-कोशों में प्रकट होता है, यह बात दोनों पन्नों को सम्मत है। वीर्य का स्वणा दोनों के मतों में सम्पूर्ण शरीर में से होता है। श्रायुवंद के मुख्य-सिद्धान्त के श्रनुसार सात धातुओं के कम से बना हुआ वीर्य सरता है, पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान के श्रनुसार वह सीधा रुधिर में से सरता है—सरता या निकलता दोनों मतों में सम्पूर्ण शरीर में से है।
- ३. यद्यपि भारतीय आयुर्वेद में अन्तःस्नाव तथा विहः म्राव का भाव साप्ट रूप से नहीं पाया जाता तथापि जहाँ तक हम ने विचार किया है उस के आधार पर हमारी सम्मित है कि आयुर्वेद में 'तेज' तथा 'ओज' शब्दों का प्रयोग अन्तः म्राव (इन्टरनल सिकीशन) और 'रेतस' तथा 'बीज' शब्दों का प्रयोग बहिः म्राव (एक्सटरनल सिकीशन) के लिए किया गया है। 'शुक्त'

तथा 'बीर्य' शब्द भीतरी तथा बाहरी, दानों मार्वों के लिये प्रयुक्त हो जाते हैं। वाग्मट्ट ने 'त्रोज' का निम्न वर्णन किया है:—

"भोजश्च तेजो धात्नां शुकान्तानां परं स्मृतम्। हृद्यस्थमपि व्यापि देहिस्थितिनिवन्धनम् ॥ यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिफलोद्याः। यन्नारो नियतो नाशो यस्मिन्तष्टित जीवनम्॥ निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः। उत्साह प्रतिमा धैर्य लावएय सुकुमारताः॥"

अर्थात् , अोज सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, देह की स्थिति का कारण है । अोज के बढ़ने से तुष्टि, पुष्टि तथा बल का उदय होता है, ओज के नष्ट हो जाने से यह सब कुछ नष्ट हो जाता है । ओज ही से उत्साह, धैर्य, लावएय और सुकुमारता आदि नाना-विध भाव प्रकट होते हैं ।

यह वर्णन अन्तः साव के विषय में लिखे गये पाश्चात्य आयु-विज्ञों के वर्णनों से बिल्कुल मिलता है। मैकफ़ैडन महोदय 'इन्टरनल सिकीरान'—अन्तः साव—के विषय में लिखते हैं:—

"इन ग्रन्थियों से निकली हुई एक-एक बूँद उत्पन्न होते ही शरीर में खप जाती है। इस का परिणाम श्रनवरत उत्साह-वृद्धि तथा स्वास्थ्य है जो वचपन में विशेष रूप से दीख पड़ता है।"

जैसा ऊपर दर्शाया गया है 'श्रन्तःस्नाव' के विषय में वाग्मष्ट तथा मैकफ़ैडन के वर्णनों में कोई भेद नहीं। 'बिहःस्नाव' पर पूर्वीय तथा पाश्चात्य श्रायुर्विज्ञान की सम्मतियों में कुछ भेद श्रवश्य हे परन्तु विहःस्नाव की सत्ता को श्रायुर्वेद में स्वीकार श्रवश्य किया गया है। भाव प्रकाश में लिखा है:-

> "शुक्रं सोम्यं सितं स्निग्धं वलपुष्टिकरं स्मृतम्। गर्भवीजं वपुः सारो जीवस्याश्रय उत्तमः। २३७॥"

श्रयीत्, वीर्य सोमात्मक, रवेत, स्निग्ध, वल श्रौर पुष्टिं-कारक, गर्भ का बीज, देह का सार-रूप श्रौर जीव का उत्तम श्राश्रय-रूप है। वीर्य का यह वर्णन किसी भी पाश्चात्य लेखक के 'वहि:ह्नाव' के वर्णन से श्रज्ञरशः मिलता है।

४. हाँ, 'बिहः स्नाव' के स्वरूप के निषय में दोनों निज्ञानों में अत्यन्त सम्मित-भेद है। आयुर्नेद में बिहः स्नाव के लिए शुक्र-कीटाणु (स्पर्मेटोनोआ) का राज्द नहीं पाया जाता, पाब्यात्य-निज्ञान में पाया जाता है; आयुर्नेद में 'शुक्र', एताव-न्मात्र राज्द का प्रयोग होता है।

श्रगड-कोशों के 'विहःस्राव' के विषय में दो कल्पनाएँ हैं। श्रागुर्वेद के कयनानुसार शुक्र ही विहःस्राव है; पाश्चात्य श्रागु-विज्ञों के श्रनुसार शुक्र-कीटाणु विहःस्राव है। स्मरण रखना चाहिए कि श्रागुर्वेद ने शुक्र को विहःस्राव कहते हुएं शुक्र-कीटाणु से इनकार नहीं किया। उस 'शुक्र' का नाम यदि 'शुक्र-कीटाणु' रखा जा सके तो श्रागुर्वेद को कोई श्रापत्ति नहीं।

परन्तु क्या विहःस्राव (गुक्त) का नाम शुक्र-कीटाणु रखा जा सकता है ? क्या यह पदार्थ जो हिलता-जुलता, गित करता मालूम पड़ता है उस में कोई प्रथक्-चेतनता है, उस में मजुष्य के आत्मा से भिन्न आत्मा है, या वह प्राणी की भौतिक चेतनता का ही रूपान्तर है ?

हमारी सम्मति में उत्पादक-वीर्य को कीटाणु-विशेष कहना श्रतुचित है। क्योंकि उत्पादक-वीर्य में गति होती है, वह चलता फिरता है, श्रतः उसे पाश्चात्य श्रायुर्विज्ञों ने 'समेंटोनोत्रा' या चेतना-विशिष्ट-जीवाणु का नाम दे दिया है-वास्तव में वह शुक्र ही है। भारतीय अधिबेंद्र के साय अध्यात्म-शास्त्र भी मिला हुआ है। यदि शुक्त को शुक्त-कीश्गु का नाम दे दिया जाय तो उस में मनुष्य से पृथक् चेत्नता मानने का भाव मन्तकने लगेगा। यह वात मारतीय अध्यात्म-शास्त्र स्वीकार नहीं करता । अतः श्रायुर्वेद में शुक्र को शुक्र-कीटाणु का नाम नहीं दिया गया श्रीर ना ही यह नाम देना किसी प्रकार उचित प्रतीत होता है । उन्हें 'कीटाणु' या 'जीवाणु' का नाम क्यों दिया जाय ? उन की गति का कारण उन की पृथक्-चेतनता नहीं है । शुक्र-कीटाणुओं की गति, श्रयवा चेतृनता, मनुष्य के मस्तिष्क की गति अयवा चेतृनता से उत्पन्न होती है अतः उन्हें य्यार्थ में 'शुक्त' नाम ही देना चाहिये, 'कीटाणु' या 'जीवाणु' नहीं । हाँ, केवल व्यवहार के लिए-क्योंकि उन में गति दिखलाई देती है इसलिए-यदि एन्हें 'कीटाणु' कह दिया नाय तो इस में हमें कोई श्रापत्ति नहीं! हमें अपित त्सी हो सकती है जब प्रत्येक कीटा हा में आत्मा माना नाय, और क्योंकि एक वीर्य-स्नाव में ही सैकड़ों कीटागु होते हैं, अतः प्रत्येक 'स्प्मैंटोजोआ' में आतमा माना जाय!

३. तीसरा विचार

हम ने अभी कहा कि 'उत्पादक-वीर्य' की गित का कारण मित्तिप्क है, 'उत्पादक-वीर्य' की 'पृयंक्-चेतनता' नहीं। यह कथन हमें वीर्य के स्वरूप के सम्बन्ध में तीसरे विचार की तरफ़ ले आता है। आयुर्वेद तथा पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान के अतिरिक्त वीर्य के स्वरूप के विषय में एक तीसरा विचार भी है जिस का उद्देश करना अत्यन्त आवश्यक है।

कई विचारकों का कयन है कि 'उत्पादक-वीर्य' (स्प्रेमेंटो-ज़ोश्रा) की उत्पत्ति रुपिरं श्रयवा श्रयंड-कोशों से नहीं विलक सींघे मस्तिष्क से होती हैं। उनका कथन है: — "वीर्य का नारा मस्तिष्क का नांश है देवों कि वीर्य तया मस्तिष्कं दोनों एक ही पदार्थ हैं।" इस में सन्देह नहीं कि वीर्य तथा मस्तिष्क को वंनाने वाले रासायनिक पदार्थ एक ही हैं। दोनों की तुलना करने पर उन में बहुत ही थोड़ा खेन्तर प्रतीत हुखा है। इसं विषय पर श्रमी गहरे श्रन्वेपण की श्रावश्यकता है। यदि रसायन-शास्त्र से सिद्ध हो जाय कि 'उत्पादक-वीर्य' तथा 'मेस्तिष्क' की रचना में कोई भेद नहीं तो बंधचर्य के लिए एक अकाटचे युक्ति तैयार हो जाय । हम यहाँ पर डाक्टरों तया रेसीयनं-शास्त्र के विद्यार्थियों को संकेत करना चाहते हैं कि यदि वे इस विषय पर श्रंधिक मनन कर कुछ क्रियांत्मक विचारों तक पहुँच सर्के तो बहुत लाभ हो ।

इस सिद्धान्त के सब से प्रवल पोपक अमेरिका के प्रसिद्ध डा॰ एन्ड्रू जैक्सन डेविस थे। वे अपनी प्रस्तक 'ऐन्सर्स टु एवर-रिकरिंग केश्चन्स फॉम दि पीपल' के २९३ पृष्ठ पर लिखते हैं:—

"कई शारीर-शास्त्रियों ने यह अम-मूलक विचार फैला दियां है कि वीर्य की उत्पत्ति रुधिर से होती है। इस सिद्धान्त से बुद्धिमान व्यभिचारी लोग खूब फ़ायदा उठाते हैं। वे कहते हैं कि यतः रुधिर से ही वीर्य वन कर अग्रड-कोशों द्वारा प्रकट होता है अतः वे वीर्य का दुरुपयोग करते हुए भी खा-पी कर उस की कमी को पूरा कर सकते हैं। वे लोग कुछ नहीं जानते। वास्तव में सचाई यह है कि 'उत्पादक-वीर्य', वीर्य-कीटाग्रु' अयवां 'स्पर्मेंटोज़ोआ' की उत्पत्ति मस्तिष्क से होती है और अन्य द्रवों के साय मिल कर वह अग्रड-कोशों में विहःस्नाव के रूप में प्रकट होता है।

"उत्पत्ति का कार्य जीवन के सब कार्यों की अपेन्ना अधिक बड़ा और थकाने वाला कार्य है। इस में मनुष्य की प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक भाव तथा शरीर और मन का हरेक हिस्सा भाग लेता है। मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ प्रत्येक 'शुक्र-कीटाशु' यदिः बाहर निकलता है तो मस्तिष्क के उतने अंश का पूरा नाश स्ममना चाहिये।

'शारीरिक परिश्रम, मानिसक कार्य तया किसी एक काम की तरफ़ लगातार लगे रहने से 'वीर्य-कीटाग्रु' श्रथवा 'स्पर्में-टोज़ोश्रा' मस्तिष्क में ही खप जाता है। यदि 'वीर्य-कीटाग्रु' को केवल उत्पत्ति के लिए काम में लाया जाय तो मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ नष्ट होने से बच जाती हैं।

"इसलिए स्मरण रखना चाहिये कि उत्पादक पदार्थों का उचित मात्रा से अधिक ख़ूर्च करना अथवा प्रकृति के नियमों का उछंवन करना मस्तिष्क पर अत्याचार करना है। ऐसा करने से दिमाग की सब तरह की बीमारियों के होने का पूरा निश्चय है। जिन लोगों पर बच्चों की रचा की ज़िम्मेवारी है उन्हें इन बातों को कभी न भूलना चाहिये।"

मस्तिष्क तया वीर्य में कोई ख़ास सम्बन्ध अवश्य है। वीर्य-नाश का दिमाग पर सीधा असर होता है, यह किसी से छिपा नहीं। डा॰ कोवन यह मानते हैं कि दिमाग से एक द्रव उत्पन्न होकर उस तरफ़ को, जिस तरफ़ मनुष्य के मनोभाव केन्द्रित होते हैं, वहने लगता है। डाक्टर हॉल का कयन है कि. अग्रंड-कोशों से एक पदार्थ उत्पन्न होकर मस्तिष्क में पहुँचता है, जहाँ से वह योवनावस्था में प्रकट होने वाले सब शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तनों को प्रादुर्भूत करता है। डाक्टर ब्लीश कहते हैं कि मस्तिष्क तथा वीर्य का पारस्परिक सम्बन्ध देर से माना जा रहा है। यहाँ तक कि शैलिंग की 'नेचुरल फिलॉसफ़ी' में मस्तिष्क के लिए—'अग्रंड-कोशों के रस से बना हुआ दिमाग़'—यह नाम पाया जाता है।

'वीर्य के स्वरूप' के सम्बन्ध में हम ने तीनों मुख्य विचारों: का उल्लेख इसलिए कर दिया है ताकि प्रत्येक व्यक्ति इस बात को भली प्रकार संमम्म ले कि वीर्य-रत्ना किये विना उस का कोई निस्तार नहीं । तीनों विचार तत्वतः एक ही हैं । किसी भी हिंछ से क्यों न देखा जाय, वीर्य-रत्ना करना जीवन-रत्ना के लिए आवश्यक—अत्यन्त आवश्यक—प्रतीत होता है । हमारे नव-युवक पाश्चात्य विचारों के पढ़ें के पीछे अपनी कमजोरियों को छिपाने का प्रयत्न करते हैं, जान-यूम्म कर अपने को घोले में डालते हैं, परन्तु उन्हें अपने आत्मा की आवाज छुन कर अवश्यम्भावी नाश से बचने की फिक्र करनी चाहिये। पश्चिमीय विज्ञान ने अभी तक जो कुछ पता लगाया है वह बहाचर्य के हक में ही जाता है । उस का दुरुपयोग करने की कोशिश न कर, उस से शिवा लेनी चाहिये। डाक्टर स्टाल ने अपनी प्रतंक पवेट ए यंग हसवैगढ़ औट दुं नो' में जीवन-शास्त्र की हिष्ट से चहुत ही उत्तम लिखा है:—

"जो लोग वृत्तों की रत्ता करना जानते हैं उन्हें यह भी मालूम है कि वृत्तों के सौन्दर्य को कार्यम रखने के लिए आवश्यक है कि उन के फलोत्पादन के समय को जितना हो सके उतना पीछे हटाने का प्रयत्न किया जाय। जब तक हम उन के बीज न बनने देंगे तब तक वे हरे-भरे, लहलहाते और फूलों से लदे रहेंगे। पुष्प के बीज बनने की सम्भावना को दूर कर दो, तुम देखोंगे कि वह फूल पहले की अपेक्षा कई घंपटे अधिक देर तक खिला रहता है। की हो का भी यही हाल है। देखा गया है कि जब उन के वीर्य नष्ट होने की सम्भावना को रोक दिया

जाय तव वे श्रपनी जाति के दूसरे कीड़ों की श्रपेता वहुत श्रिषक जीते हैं। एक तितली पर परीत्ताण कर के देखा गया कि जहाँ जनन-शक्ति का उपयोग करने वाली तितिलयाँ कुछ ही दिनों की मेहमान थीं वहाँ वह तितली दो साल से भी ऊपर जीती रही।"

ऐसे परीचाणों से वीर्य-रज्ञा का जीवन के लिए महत्व श्रखिएंडत रूप से सिद्ध है—इस में चाण-भर के लिए भी सन्देह नहीं करना चाहिये।

ह्वाद्श श्रध्याय

'त्र ह्म च र्यः'

[वीर्य-रचा ही जीवन है, वीर्य-नाश ही मृत्यु है !]

हम खाते-पीते और मौन उड़ांत हैं। किसी प्रकार की हम खाते-पीते और मौन उड़ांत हैं। किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करते। शरीर बढ़ता चला जाता है। कहाँ बचपन का एक हाथ नन्हा-सा प्रतला और कहाँ छः फ़ीट लम्बा, डेढ़ मन का बोम ! परन्तु इस वृद्धि में वही आँखें, नाक, कान, ग्रंग, प्रत्यंग तथा आत्मा विद्यमान हैं। वही छोटी चीज़ बड़ी हो गई है, वही हल्की वस्तु भारी हो गई है। इस आध्यर्य-जनक परिवर्तन का कारण शरीर की संचय-शक्ति है। हम ने बड़े परिश्रम से उपादेय पदार्थों का शरीर में संग्रह किया है, इसी से आज देह उन्नत तथा प्रवृद्ध दिखाई देता है।

परन्तु यह उन्नित चिर-स्यायिनी नहीं। दिन चढ़ कर दलता है, लहर उठ कर गिरंती है। गरीर भी हट्टा-कट्टा होकर चीण होने लगता है। 'संचय' के अनन्तर 'विचय' प्रारम्भ होता है। जीवन के बाद मृत्यु पदार्पण करने लगती है। हम दैनिक-ज्यवहार में देखते हैं कि मनुष्य की समृद्ध होती हुई शक्तियाँ किसी समय आकर ठहर जाती हैं, रुक जाती हैं, कई वार पतनोन्मुख

١,

होने लगती हैं। मनुप्य नैंसे-का-तैसा नहीं बना रहता। यह ऊँच-नीच क्यों ?—यह परिवर्तन क्यों ?

जिन्हों ने संचय के पश्चात् विचय, श्रयवा उन्नति के बाद नाश के श्रवश्यम्भावी चक्र पर विचार किया है उन का कथन है कि इस का कारण, जीवन की प्रौढ़ावस्था के श्रनन्तर, दो परस्पर विरुद्ध प्रवृत्तियों का टक्कर खाना है । शारीर-वृद्धि की स्त्रार्थमधी प्रवृत्ति प्रजा-जनन की परमार्थ-प्रवृत्ति से दन्न जाती है । मनुष्य घर बना कर वैठ जाता है । श्रपने शारीर में संचय करना छोड़ कर सन्तानोत्पत्ति करना प्रारम्भ करता है । प्रकृति खेल करती हुई उसे श्रपनी उँगिलयों पर नचाती है । जो व्यक्ति खाने, पीने श्रीर श्रपने शारीर के विषय में सोचने से श्राराम नहीं लेता था वही परमार्थ के चक्कर में घूमने लगता है । श्रपनी सन्तान के लिये कठिन-से-कठिन कप्ट भोगने के लिये तय्यार हो जाता है । स्वभाव-सिद्ध क्रम से, स्वार्थ की श्रवस्था के पीछे स्वर्थ-त्याग की श्रवस्था श्रा जाती है ।

मनुष्य की 'शिक्तयों का हास' तथा 'प्रजा-जनन' दोनों एक ही समय में प्रारम्भ हाते हैं। प्रजोत्पत्ति के पश्चात् अधिक शारीरिक उन्नति की सम्भावना नहीं रहती। जिस तत्व से शारीरिक उन्नति हो सकती थी वह प्रजोत्पत्ति में काम श्रा जाता है, फिर शारीरिक उन्नति क्यों न रुक जाय ? प्रजा उत्पन्न करना बुरा कार्य नहीं। ऊँचे श्रयों में सन्तान उत्पन्न करना न्नह्म का अनुकरण करना है। परन्तु इतने से क्या प्रजोत्पत्ति के

अवश्यम्भावी परिणामं रुक संकति हैं ?-नहीं, केमी नहीं। प्रजोत्पत्ति के प्रारम्भ होते ही शारीरिक शक्तियों का हास प्रारम्भ है। जाता है। संचय की शक्तियों को विचय की शक्तियाँ श्रा घेरती हैं। मंजुष्य का कृंद्रम मृत्युं की तर्ए बंद्रने लगता है, क्योंकि संजीवनी-शक्ति के बीज का शरीर से बाहर जाना जीवन का प्रतिद्वंन्दी है। जब शरीर में वृद्धि अधिक नहीं समा संकंती तंत्र उत्पत्ति प्रारम्भ करने से किंसी हानि की सम्भावना नहीं, परन्तु इस से पूर्व उत्पत्ति का कांर्य प्रारम्भ करने पर मंतुष्य किंसी प्रकार भी नाश से नहीं वच सकतां । प्रजा-जनन, शरीर-वृद्धि के चरम-सीमा तक पहुँच जाने का स्वाभाविक परिणाम होना. चाहिये-इसी का नाम 'ब्रह्मचर्घ्य' हैं। जब भी शरीर-वृद्धि के समय में प्रजोत्पत्ति की जाती है तभी ब्रह्मचंध्ये के नियमों का उहुँधर्न होता है। 'शरीर-वृद्धि' श्रयवा 'संचय' की अवस्था में वीर्य का हस्त-मेथुन, व्यभिचार श्रयवां बाल-विवाह शादि किसी स्त्रप में भी नाश करना 'मृत्यु' का आहान करना है, क्योंकि बैंसिचर्य ही जीवन हैं, अबसचर्य ही मृत्युं है।

उत्पत्ति के साथ नारा का श्रविनाभाव सम्बन्ध है। प्रजो-त्पत्ति में वीर्य का चय होता है। वीर्य के चय का बदला चुकाने के लिए प्रत्येक प्राण-धारी को मृत्यु की गठड़ी सिर पर उठानी पड़ती है। जीवन-शास्त्र पर जिन्हों ने लिखा है उन की प्रस्तकों से कई ऐसे दृष्टान्त संगृहीत किये जा सकते हैं जिन से उत्पत्ति तथा नारा का सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होने लगे। पाठकों को वीर्य-रच्चा के महत्व को दर्शाने के लिए हम यहाँ ऐसे-ही कुछ दृष्टान्तों का संग्रह करेंगे।

हैनलाक एलिस महोद्य श्रपनी पुस्तक 'एरोटिक सिम्बो-लिज़्म' के १६८ ए० पर इस सम्बन्ध में श्रपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं:—

"वीर्य-नारा में वंदना-तन्तुत्रों का जो तनाव होता श्रौर उस से शरीर को जो धका पहुँचता है वह इतना भयंकर होता है कि उस से सम्भोग के वाद श्रवुभव होने वाले दुप्परिणामों का होना सर्वया स्वाभाविक है । पशुत्रों में यही देखने में त्राया है । प्रयम सम्भोग के बाद बड़े-बड़े तय्यार वैल और घोड़े वेहोश हो कर गिर पड़ते हैं, सूत्रर संज्ञा-हीन हो जाते हैं, घोड़ियाँ गिर कर . मर जाती हैं । मनुप्यों में मौत तो देखी ही गई है परन्तु उस के साय ही सम्भोग के वाद की यकान से अनेक उपद्रव भी उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी कई दुर्घटनाएँ होती देखी गई हैं । नव-युवकों में प्रयम सम्भोग से वेहोशी तया कुय त्रादि होती हैं, कई वार मिरगी हो जाती है, श्रंग ढीले पड़ जाते हैं, तिछी फट जाती है। रुधिर के द्वाव को न सह सकने के कारण कड़्यों के दिमाग की नाड़ियाँ खुल नाती हैं, अर्धांग हो नाता है। वृद्ध पुरुपों के वेश्याओं के साय अनुचित संवन्ध का परिणाम श्रनेक वार मृत्यु देखा गया है। श्रनेक पुरुष नव-विवाहिता वधुर्यों के आर्लिंगन के आवेग को नहीं सह सके और उसी त्रवस्था में प्राण्-विहीन हो गये।"

शहद की मिक्लयाँ प्रथमालिंगन के सम-काल ही जीवन से हाय घो बैठती हैं। तितलियों का श्वास सम्भोग के साय ही समाप्त हो जाता है। की डियों की भी यही कहानी है। मछ लियाँ सन्तानोत्पत्ति के अनंतर अत्यन्त ज्ञीण हो जाती हैं। मृत्यु उन से द्र नहीं रहती । कीड़ों, पतंगों में, प्रजीत्पत्ति तथा मृत्यु, दोनों, ऐसे मिले-जुले हैं कि एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता । चूहे, गिलहरी, ख़रगोश प्रजोत्पत्ति के बाद कई वार मर जाते हैं, कई वार वेहोश होकर एक और को गिर पड़ते हैं। पिचयों में सम्भोग का परिणाम सर्वत्र तात्कालिक मृत्यु नहीं पाया जाता परन्तु इस के दुव्परिणाम उन में भी किसी-न-किसी रूप में बने ही रहते हैं। जीवन की लहर के आवेग में उन के जो मधुर गीत निकलते थे वे अब सूख जाते हैं, चित्रकार को चिकत कर देने वाले पँखों के रंग उड़ जाते हैं, नाचना भूल जाता है, कदम ढीला हो जाता है। ज्यों-ज्यों जीवन उन्नति की तरफ़ चलता जाता है त्यों-त्यों उत्पत्ति के साथ जुड़ी हुई मृत्यु भी अपने भयंकर स्वरूप को सौम्य वनाने का प्रयत्न करती है, परन्तु कितना भी क्यों न हो, उस की भयंकरता का रुद्र-रूप शिथिल होता हूत्रा भी दुष्परिणामों में वैसे-का-वैसा ही वना रहता है । जीवन के प्रत्येक चेत्र में उत्पत्ति की यकान का प्रयम शिकार, नाटक का सूत्रधार, 'नर' ही होता है। मरना हो तो वही पहले मरता है, वेहोरा होना हो तो वही पहले होता है । वही इस उपाल्यान का प्रधान पात्र है, उसी ने रंगीलेपन में फाग उड़ाया है, उसी

से किस्सा भी ख़तम होता है। 'मादा' का जीवन भी संकट में पड़ता है परन्तु 'नर' की अपेचा बहुत कम। चुद्र-प्राणियों में प्रजोत्पत्ति की ज्वाला भयंकर रूप धारण कर 'नर' को तत्काल भरम कर देती तथा 'मादा' को स्वल्प-काल में ही भरमावशेष कर देती है। मनुष्य में इस ज्वाला की शिखा धीमे-धीमे जलती है। कभी ज्वाला चमक उठती, और कभी दब जाती है। इस ज्वाला की गर्मी से मनुष्य की अनेक प्रसुप्त शक्तियों का कमिक विकास होता है, परन्तु इस की शिखाओं को भयंकर रूप देने वाले को स्मरण रखना चाहिये कि यदि इस आग ने प्रचएड रूप धारण कर लिया तो उसी को, स्वयं विल वन कर, अग्नि-देव की रुधिर-पिपासा को शान्त करना होगा।

जेड्डीज़ श्रोर थोमसन ने 'दि एवोल्यूशन श्रॉफ सेक्स' में जो विचार प्रकट किये हैं उन का इस प्रकरण में उछेख करना श्रत्यन्त शिचा-प्रद सिद्ध होगा। श्रपनी प्रस्तक के २५५ ए० पर वे लिखते हैं:—

"मृत्यु तथा उत्पत्ति का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट है, परन्तु साधा-रण बोल-चाल में इस सम्बन्ध को शुद्ध रूप में नहीं कहा जाता। लोग कहते हैं कि सब प्राणियों को मरना अवश्य है अतः उन्हें सन्तानोत्पत्ति ज़रूर करनी चाहिये। ऐसा न करने से प्राणियों का सर्वथा लोप हो जायगा। परन्तु यह बात अशुद्ध है। पीछे क्या होगा या क्या न होगा, यह सोचने वाले संसार में थोड़े हैं। यथार्थ बात जो प्राणियों के जीवन के इतिहास से समम् पड़ती है यह नहीं है कि—'व प्रजोत्पत्ति इसिलए करते हैं क्यों कि उन्हें मरना है'—परन्तु यह है कि—'व मरत इसिलए हैं क्यों कि वे प्रजोत्पत्ति करते हैं'। गेटे का कयन सत्य है कि 'मृत्यु से बचने के लिए हम प्रजोत्पत्ति नहीं करते परन्तु क्यों कि हम प्रजोत्पत्ति करते हैं इसिलए उस के अवश्यम्भावी परिणाम, मृत्यु, से नहीं बच सकते।'

"विज्ञमन तया गेटे, दोनों ने भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से ऐसे कीटों तया पत्नों के नीवनों को दर्शाया है जो 'वीर्य-कीटागु' के उत्पन्न करने के कुछ घएटों के बाद मर जात हैं। 'नर' में विचय-शक्ति अधिक है अतः उस के जल्दी ख़तम होने की सम्भावना है। नर-मकड़ी सम्भोग के बाद मर जाती है। उस का मरना अन्य प्राणियों के मरने पर प्रकाश डालता है।उच प्राणियों में उत्पक्ति के लिए किये जाने वाले त्याग के साथ मिला हुआ नाश का अश कम अवश्य हो जाता है परन्तु फिर भी प्रेम का बदला चुकाने के लिए मृत्यु का भूत विल्कुल पीद्या नृहीं छोड़ता। प्रेम के प्रभात का अन्त प्रायः मृत्यु की घोरनिशा में होता है।"

उपर्युक्त उद्धरण में एक क्यन वहें महत्व का है। जिड़ी न तथा योमसन की सम्मित है कि प्राणि-जगत में उत्पत्ति इसलिए प्रारम्भ नहीं होती क्योंकि उन की मृत्यु अवश्य होनी है, परन्तु उन की मृत्यु इसलिये होती है क्योंकि वे उत्पत्ति प्रारम्भ कर देते हैं। मृत्यु सन्तानोत्पत्ति का अवश्यम्भावी परिणाम है। निस्स- न्देह यह एक स्थापना है, परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि इसस्थापना के करने वाले साधारण न्यक्ति नहीं हैं। यह स्थापना ऐसे च्यक्तियों ने की है जिन का विज्ञान पर ऋण है, जिन्हों ने जीवन-साख के प्रथ पर घपना वहुत समय विताया है। श्रनुभव इस स्थापना की पुष्टि करता है। उत्पत्ति के साथ विनाश के इस नित्य-सम्बन्ध को ही तो देख कर अपृष-मुनियों ने ब्रह्मचर्घ्य पर इतना मल दिया था, ब्रह्मचर्च्य के ब्यादरी को उत्तरोत्तर बढ़ाया या । वसु, रुद्र तथा प्रावित्य ब्रह्मचारियों में वसु को निकुष्ट ज्ञहाचारी ठहराया या । कितना ऊँचा लच्य है ! चौत्रीस साल त्तक व्रसाचर्य रखना पर्याप्त नहीं समभा गया । प्राचीन ऋपियों ने ब्रह्मचर्य के प्रश्न को विवाद अथवा व्याख्यान देने तक सीमित नहीं रक्ता था। ब्रह्मचर्य का प्रश्न उन के लिए नीवन-गरण का प्रश्न था। इस पर उन्हों ने ऐसे ही विचार किया था जैसे घानकल के विद्वान् किसी 'सायन्स' के विषय परं करते हैं। संयम तया ब्रह्मचर्च्य को लच्य में रख कर उन्हों ने नियन्त्रित पाटशालाएँ चलाई थीं जिन का नाम 'गुरुकुल' था। गुरुकुलों में चानकल के स्कूलों थ्रीर कालिजों की तरह कितावें रटवा कर विद्यार्थियों को पैसा पैदा कर सकने की मैशीन बना देना उद्देश्य न होता था । स्त्राचार की मयीदा तक पहुँचना वहाँ का ध्येय रक्ता गया था। जिस प्रकार त्राजकल कितावें पढ्ना स्कूलों का श्रन्तिम उद्देश्य समभ्ता जाता है ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचर्य्य का पालन कराना, संयम-पूर्वक जीवन विता सकने की शिक्षा देना,

गुरुकुलों का चरम लच्य था। प्राचीन-काल में यह कार्य, श्राज-क्तल के शब्दों में एक 'सायन्स' का महत्व रखता या, इस के . लिए बड़े-बड़े मस्तिष्क दिन-रात लगे रहते थे। अपृपियों ने जीवन के महत्व-पूर्ण प्रश्न का एक हल निकाला या-वह या 'ब्रह्मचर्च्य' । उन के गुरुवड़े सरल थे, परन्तु ब्रह्मचर्च के भावों से पुर थ । वे कहते थे-'ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपान्नत'-व्रह्मचर्य के तप से देवतात्रों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त किया ; 'ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः' -- ब्रह्मचर्य के स्थिर एकन से शारीरिक, मानसिक तथा त्रात्मिक वल प्राप्त होता है ; 'मरगं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्'—विन्दु-पात में जीवन का नारा तथा विन्दु-रज्ञण में जीवन की रज्ञा है। कैसे छोटे-छोटे संस्कृत के सुन्दर दुकड़े हैं परन्तु इन्हीं में जीवन की विकट समस्यात्रों के कैसे जीवन-शास्त्र तथा शारीर-शास्त्र के महत्व-पूर्ण हल भरे हुएं हैं।

त्रयोद्श ऋध्याय

'ब्रह्म चर्य'

[ब्रह्मचर्य के नियम और ऋषियों की बुद्धिमत्ता]

या। सदाचार का जीवन किस प्रकार ज्यतीत किया जा सकता है इस की उन्हों ने पूरी-पूरी खोज की थी और उसी के छाधार पर ब्रह्मचर्य के नियमों को घड़ा था। इस प्रकरण में हम ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लेख करते हुए यह भी दर्शन का प्रयत्न करेंगे कि अपूर्पियों-मुनियों ने ब्रह्मचर्य के लिए जिन नियमों का प्रतिपादन किया है, यद्यपि वे साधारण-दृष्टि से मामूली-से जान पड़ते हैं तथापि उन में गहन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त कार्य कर रहे हैं। उन की आज़ाएँ वर्तमान परीच्चणों, वैज्ञानिक गवे-पणाओं तथा सार्वभीम अनुभवों से भी पूर्ण्तया सिद्ध होती हैं।

निम्न-लिखित श्लोकों में ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त सेचिस-रूप से समाविष्ट हैं:—

"सरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभापणम् । संकल्पोऽध्यवसायश्च कियानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मैधुनमप्राङ्गं प्रवदन्ति मनीपिणः । चिपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाप्रलक्षणम् ॥" इन्हीं अष्टांग मेथुनों का निपेध, उपनयन-संस्कार के समय 'मेथुनं वर्जय' उपदेश द्वारा किया जाता है—'हे वालक! योवन काल में से गुज़रतं हुए आठ प्रकार के मेथुनों से वचना। घ्यान, कथा, स्पर्श, कीड़ा, दर्शन, आर्लिंगन, एकान्त-वास और समागम में से किसी एक का भी शिकार मत बनना, वीर्य-रज्ञा करना। जो मनुष्य इन का शिकार हो जाता है वह असी भी अवस्था में बह्मचारी नहीं रह सकता।'

श्रात्म-संयम तथा वीर्य-रज्ञा के लिए ये गिज्ञाएँ ब्रह्मचारी को गुरुकुल में प्रविष्ट होते ही दी जाती थीं। इन शिजाओं का, संज्ञेप में यही अभिप्राय है कि ज्ञान की साधन पाँचों इन्द्रियाँ को मार्ग से विच्युत न होने देना चाहिए। उन का सदा सदुप-योग करना चाहिए । उन्हें भटकने न देना चाहिए । ब्रह्मचर्य के उपदेश में एक-एक इन्द्रिय को वश करने पर विशेष वल दिया गया है। सन्ध्या में प्रत्येक इन्द्रिय का नाम लेकर उसे सीधे मार्ग पर चलाने की प्रेरणा की गई है। प्रत्येक इन्द्रिय के दुरुपयोग से ब्रह्मचर्य-हानि की सम्भावना है, अतः अपूर्ियों ने एक-एक इन्द्रिय को लच्य में रख कर ऐसी आज्ञाएँ प्रचलित की थीं जिन के पालन करने से उन सम्भावनाओं को सर्वया रोक दिया जाय। उन की त्राज्ञात्रों का त्राधार विल्कुल वैज्ञानिक है। यही दर्शाने के लिए हम एक-एक इन्द्रियार्थ का वर्णन करते हुए पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों पर अर्वाचीन तथा प्राचीन विचारों की दृष्टि से कुछ लिखेंगे।

१. रूप

मनुप्य के मनोविकारों को जागृत करने में श्राँखों का हिस्सा नहुत वड़ा है, इसलिए संयमी मनुज्य के लिए उन पर नियन्त्रण् रखने की नहुत आवश्यकता है। आजकल का शहरों का जीवन वालक तथा वालिकाओं के सन्मुख श्रदःपतन तथा नारा के द्रवाने खोल देता है। वे निवर श्रॉलें उटाते हैं उपर ही उन्हें नलात्कार-पूर्वक खींच ले जाने वाले प्रलोभन उमड़ते हुए नज़र श्राते हैं । वे अपने को रोक नहीं सकते । प्रत्येक शहर, नाटक तया सिनेमाओं से भरा हुआ है। नाच, गीत, रंग, रूप-सव मिल कर नव-युवक पर श्राक्रमण करते हैं—वेचारा सामर्थ्य न होने से दन जाता है। प्लेटो ने नाटकों के देखने के विषय में लिखा है कि उन के द्वारा मनुष्य पर कृत्रिम वस्तुओं का प्रभाव · वास्तिविक वस्तुओं की अपेचा अधिक होने लगता है। मनो-वैज्ञानिक विलियम जेम्स ने इसी प्रकरण में एक रिशयन महिला का उल्लेख किया है जो नाटक के दश्य में सर्दी से ठिठरते हुए मनुष्य को देख कर श्राँसू वहाती रही परन्तु उस का घोड़ा तया कोचवान नाटक-शाला के वाहर रूस के खून जमा देने वाले पाले में मरते रहे। नाच देखने का शौक, युरुप तया भारत, दोनों नगह पर्याप्त मात्रा में है; परन्तु इस के भयंकर दुष्परिणामों की तरफ़ श्राँखें खोल कर नहीं देखा जाता। यह सुजाखों का श्रन्था-पन है। डा॰ कैलोग 'प्लेन फैक्ट्स' के ३२१ प्रष्ठ पर लिखते हैं:-- "श्रात्म-त्तय, रात्रि- जागरण, मध्य-रात्रि-भोजन, फैरानेत्रल श्रोर श्रनुचित ड्रेस का परिधान तया शीत—इन दोपों के श्राति-रिक्त यह भी दिखाया जा सकता है कि नाचने से मनोभाव उत्ते-जित हो जाते हैं श्रोर कुवासनाएँ जाग उठती हैं जिन के कारण मनुष्य कुकर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। ऐसे घृणित-ऋत्य श्राचार-शास्त्र को धका पहुँचाने वाले तथा व्यक्ति की शारीरिक श्रोर मानसिक उन्नति के घातक हैं।" चन्नुरिन्द्रिय का यह दुरुपयोग प्राचीन श्रपियों से छिपा न था। इसीलिए उन्हों ने ब्रह्मचर्य के नियमों का वर्णन करते हुए— 'नर्तनं गीतवादनम्'—इस प्रकार की श्राज्ञाश्रों में नाचने-गाने का सर्वया निषेध कर दिया था।

ब्रह्मचर्य के नियमों में दर्पण देखने का भी निर्पेष है, इस का यही कारण है कि दर्पण के उपयोग से कई नव-युवक अनुचित मानसिक-भावों के शिकार वन जाते हैं। इन विषयों पर हेविलोक एलिस ने वड़े परिश्रम से श्रनुसन्धान किये हैं। वे श्रपनी प्रस्तक 'सैचुश्रल सिलेक्शन इन मैन' के १८७ पृ० पर लिखते हैं:—

''श्राजकल वेश्या-घरों तथा श्रन्य फ़ैशनों की जगहों पर सर्वत्र दर्पणों का प्रयोग बहुतायत से पाया जाता है। भोले-भाले बालक तथा बालिकाएँ श्रपने को दर्पण में देख कर श्रपने विषय में तरह-तरह की कल्पनाएँ करने लगते हैं श्रीर इस प्रकार दर्पण द्वारा पहले-पहल कुवासनाश्रों को सीख जाते हैं।"

क्या एलिस महोदय के कयन में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह है १ दर्पण का प्योग फैरान के लिए बढ़ता चला जा रहा है 1 युवक लोग शीशे में चेहरे की एक-एक रेखा को देखते हैं। उन के हृदय में तरह-तरह की भावनाएँ उठती हैं। उन सब के होते हुए ब्रह्मचर्य की रक्ता हो सकना श्रसम्भव है।

पाँचों इन्द्रियों से गिरावट किस प्रकार होती है इस पर विचार करते हुए शायद 'मोंके' पर कुछ लिख देना प्रकरणान्तर न होगा, क्योंकि 'मोंका' पाकर ही 'रूप' श्रादि मनुष्य पर धावा बोल देते हैं। 'मोंका' मनुष्य की गिरावट का शायद सब से बड़ा साधन है। बालकों को गिरने के लिये मोंका मिल जाता है, बालिकाओं को गिरावट के लिये श्रवसर प्राप्त हो जाता है, वड़ी उन्न के पुरुप तया क्षियों को भी गिरने के लिये श्रवसर दूँदने की कठिनता नहीं होती। 'मोंका' ऐसी चीज़ है जिस के मिलते ही मनुष्य का धर्म-कर्म कूच कर जाता है। संसार को उपदेश देने वाला महात्मा श्रात्म-हत्या का महा-पातक कर बैठता है।

वचों को खुला छोड़ देना भयंकर पाप है। यदि उन की प्रत्येक गति पर प्रेम-मय नियन्त्रण की आँख न रक्खी जाय तो उन का घृणित-तम पातकों को सीख जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। हमें माता-पिता की मूर्खता पर हँसी आती है जब वे अपनी संतान की पवित्रता के गीत गाते खुन पड़ते हैं। वे समभते हैं कि उन के बच्चे गलियों में निकन्मे फिरते हुए भी आचार में किसी तरह गिर नहीं सकते। कितनी मारी मूल है। बच्चों को जब तक काम, में नहीं, लगाये रक्खा जायगा तब तक उन के

सदाचारी बने रहने की आशा रखना निरागा को नियन्त्रण देना होगा। काम में लगे हुए बच्चों को गाली-गलौज सीखने का 'मोका' ही नहीं मिलता, वे अधःपतन के पाठ को सीख ही नहीं सकते। इसीलिये अपियों ने वेदारम्भ-संस्कार के उपदेश में सब से प्रथम उपदेश—'कर्म कुरु'—रखा था। 'काम करो, खाली मत रहो, अपनी शक्तियों का प्रतिच्चण संचय, सदुपयोग तथा सद्वचय करते रहो।' जिन बालकों को गिरने का मौका मिल जाता है, उन का नाश, दुःख तथा आध्वर्य से, हमें, अपनी आँखों से, अपने सामने देखना पड़ता है। 'सैच्चअल लाइफ ऑफ़ दी चाइल्ड' के लेखक ने एक बालक के विषय में लिखा है:—

'मैं एक १४ वर्ष के वालक को जानता हूँ जो लगातार चर्च में जाता था और वड़ा मेहनती विद्यार्थी था। उसे अंग-भंग की वीमारी थी। उस की माता वालक को दिख़ाने के लिए मेरे पास ले आई। परीचा करने पर मैंने देखा कि वालक को सुज़ाक की वीमारी थी। जब मैंने बच्चे की माँ को सब-कुछ सच-सच कह दिया तब उस की माता मुम्म से कुद्ध हो उठी, क्योंकि वह अपनी सन्तान के विषय में ऐसी वात सुन ही नहीं सकती थी। अधिक अन्वेपण करने पर मालूम हुआ कि तेरह वर्ष की अवस्था से भी पहले से वह वालक वेश्याओं के भी पास आता-जाता था।"

इस वालक का जो हाल या इस तरह का हाल न जाने कितने वचों का होगा परन्तु माता-पिता अपनी सन्तान के विषय में यह सब-कुछ सुनने के लिए तय्यार नहीं होते. श्रीर जब तक बच्चे का सम्पूर्ण नारा उन की श्रांकों के सामने नहीं हो लेता तब तक निश्चिन्त हुए बैठे रहते हैं!

इसी 'मौक़' की सम्भावना को दूर करने के लिए गुरुकुलें। के नियमों के अनुसार लड़कों का, लड़कों के गुरुकुलों में आना निषिद्ध ठहराया गया था। बुरे मौक़ों से वचने के विचार को दृष्टि में रख कर ही प्राचीन काल में गुरुकुलों की स्थापना जंगलों में की जाती थी। मौक़ा मिलने पर रूप, रस, शब्द, गन्ध, स्पर्श सभी द्वारा मनुष्य की गिरावट होती है इसलिए ब्रह्मचर्य-रच्चा का सब से बड़ा साधन ऐसे मौक़ों से वचना है। प्राचीन-शिचा-क्रम में तभी तो ब्रह्मचारी तथा आचार्य, दिन-रात, २४ घर्यटे साथ-साथ जीवन व्यतीत करते थे; गिरावट के 'मौक़े' से ही बालक को बचाये जाने का प्रयत्न किया जाता था।

२. शब्द

मनुष्य के अनु चित मानिसक आवेगों को रोकने के लिए शास्त्रों में नृत्य का निषेध किया गया है। नृत्य के साय-साय कान के व्यसन, गीत आदि में मस्त रहने की भी ब्रह्मचर्य के नियमों में मनाई है। गाने-अजाने का अधिकार ब्रह्मचारी को नहीं दिया गया। इस का कारण यही है कि गाना-अजाना ब्रह्मचर्य में हानिकर है। इस से मनोविकारों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। हेविलोंक एलिस ने गाने तया मानसिक विकारों की उत्पत्ति का सम्बन्ध वड़ी सफलता से अपनी पुस्तक 'सेंचुअल सिलैक्शन इन मैन' में दर्शाया है । व उस पुस्तक के १२२ पृष्ठ पर लिखते हैं:-

''इस में कोई सन्देह नहीं कि भिन्न-भिन्न प्राणियों में— विशेष रूप से कीड़ों, पतंगों तया पिचयों में — संगीत का उद्देश्य 'नर' का 'मादा' को अपनी तरफ लुभाना ही होता है। टार्विन महोद्य ने इस दृष्टि से बहुत अन्वेपण किये और वे इसी सिद्धान्त पर पहुँचे । इस विषय पर हर्वर्ट स्पेन्सर तया उन के श्रवयायियों ने शंका उठाई है, परन्तु वर्तमान गवेणणात्रों से यह वात स्थिर रूप से सिद्ध हो चुकी है कि मधुर राज्द्रों तया गीतों का परिणाम पित्तयों में नर श्रोर मादा का मिलना ही होता है। गीत तथा पूम के सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि पूर्णि-जगत् में नर तया मादा में से एक ही को मधुर-खर दिया गया है, दोनों को नहीं । इस का उद्देश्य मानसिक प्रमुप्त भावों को उद्बुद्ध करना नहीं, तो क्या है।" जिस प्रकार पशुंचों में गाने तथा प्रेम के भाव प्रकट करने का भारी सम्बन्ध पाया जाता है उसी पूकार मनुप्यों में भी यह नियम काम करता दिखाई देता है। एलिस महोदय पशु-पिचर्यो में इस नियम को दर्शा कर मनुज्यों के विषय में लिखत हैं:-क्ता अन्य हम इसःवात पर विचार करते हैं कि पशु-पित्रयों में ही नहीं अपित मल्यों में भी, योबनावस्या में, योवा के इस भाग की रचना में भारी परिवर्तन उत्पन्न होते हैं जिस का गाने में इप्रधिक उपयोग होता है तब इस में तिनक भी सन्देह नहीं रहता कि गाने का यौवन के मानसिक भावों के साथ बड़ा भारी सन्त्रन्थ है।

"इसी सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए, छेटो ने अपने काल्पनिक-राज्य में, किस प्रकार की गान-विद्या की आज्ञा देनी चाहिये, इस प्रश्न पर विचार किया है। यद्यपि छेटो ने यह नहीं कहा कि संगीत का सदा ही मनुष्य पर उत्तेजक प्रभाव होता है तथापि वह विशेष प्रकार के संगीत का मानसिक विकारों को उत्पन्न करने के साथ सम्बन्ध अवस्य मानता है। ऐसे संगीत से शरात्रीपन, औरतपन और निकम्भापन बढ़ता है; और छेटो की सम्मति में, पुरुषों का तो कहना ही क्या, ख्रियों को भी ऐसा संगीत नहीं सिखाना चाहिये। छेटो दो ही प्रकार के संगीत सिखाने के हक में है: युद्ध का अथवा पूर्यना का।"

जब हम पशुत्रों, पित्तिश्रों तथा मनुष्यों में सर्वत्र संगीत का सम्बन्ध विपयं की वासना को जगाने के साथ ऐसा पूत्रल देखते हैं तब प्रचीन अप्रियों का ब्रह्मचारियों के लिए गाने-बजाने का निषेध करना ही उचित प्रतीत होता है। इस में कोई सन्देह नहीं कि गाने श्रीर गाने में भेद है। पूत्येक गाना विपय-विकार की उत्पन्न करने वाला नहीं होता। इसलिए पूत्येक प्रकार का गाना भी ब्रह्मचारी के लिए रोकां नहीं गया। सामवेद के गाने का तो ब्रह्मचारी के लिए विधान ही किया गया है। क्योंकि, श्रियकारा,

गीत का सम्बन्ध विषय-वासना के साथ है, इसीलिए ब्रह्मचारियों के लिए गाने-बजाने का निषंध करना पूर्ण-बुद्धिमत्ता का कार्य है, इस में किसी को सन्देह नहीं हो सकता ।

३. गन्ध

नासिका तया जनन-शक्ति में श्रनिष्ट सम्त्रन्थ है। प्राचीन रोम के लोग इस सम्बन्ध से भली प्रकार परिचित थे ; वर्तमान काल में भी इन के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विश्वास पाया जाता है। यौवन-काल में लड़कों तथा लड़कियों को नकसीर बहुत फूटने का कारण, नासिका तथा जननेन्द्रिय का सम्बन्ध ही है। इसी समय नासिका के दूसरे रोग भी उठ खड़े होते हैं। श्रनेक वार नकसीर को, जनन-प्रदेश में वर्फ़ से टएडक पहुँचा कर, बन्द किया गया है। कमज़ोर पुरुषों तथा स्त्रियों में हस्त-मैशुन श्रयवा सम्भोग के वाद नक्सीर फ़्टती देखी गई है । कई वार वीर्य-चय के पीछे नासिका द्वार का अवरोध तया छींक आना श्रादि रेखा गया है । इस विषय पर कई लेखकों ने प्रकाश डाला है। एलिस महोद्य एक स्त्री का उल्लेख करते हैं जिस में उपर्युक्त कथन पूरा-पूरा घटता था। फ़ीरी ने एक स्त्री के विषय में लिखा है जिसे विवाह के वाद नाक की वीमारियों की लगातार शिकायत रहने लगी थी। जे० एन० मैकेन्ज़ी ने अनेक दृष्टान्त देते हुए लिखा है कि नव-विवाहित पति-पत्नियों में जुकाम के बहुधा पासे नाने का मुख्य-कारण भी यही है।

इस गिरावट के ज़माने में परमात्मा की दी हुई प्रत्येक वस्तु का दुरुपयोग हो रहा है। वाज़ार तरह-तरह के गन्धों से भरा हुआ है। कस्त्री का बहुत प्रयोग दिखाई देता है। पशुओं के शरीर से बने हुए गन्ध उत्तेनक होते हैं, अतः जंगली लोगों में उन का बहुत प्रचार था, परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य सम्य होता जाता है त्यों-त्यों पशुओं के शरीर की गन्ध के स्थान में फूलों की गन्ध का उपयोग बढ़ता जा रहा है। फूलों से जो गन्ध बनते हैं वे भी मनुष्य की कुवासनाओं को उद्बुद्ध करते हैं, क्योंकि उन की रचना में वही पढ़ार्घ होते हैं जो कस्त्री आदि पशुओं के गन्ध में पाये जाते हैं। पशुओं से अथवा फूलों से, दोनों ही से, निक़ला हुआ गन्ध सर्वया समान है और दोनों के दुष्परिणाम ब्रह्मचर्थ के लिए भयंकर हैं।

एलिस महोद्य ने 'जरनल श्रॉफ साइकोलोजिकल मैडिसिन'
में से उद्धरण दिया है, जिस का श्राशय यह है कि बनावटी फूलों
के गन्धों का प्रयोग सदाचार के लिए श्रत्यन्त हानिकारक है
श्रोर सदाचार का जीवन ज्यतीत करने के लिए फूलों से बचना
ही उत्तम है। इसी कारण प्राचीन काल में ब्रह्मचर्थ के नियमों
का उपदेश देते हुए श्राचार्य गन्ध-फूल-माला श्रादि उत्तेनक
पदार्थों से बचने का श्रादेश करता था। श्राजकल के स्कूलों
तथा कालिजों के विद्यार्थी गन्धों का श्रत्यिक प्रयोग करते हैं।
उन्हें समम्तना चाहिये कि यह ब्रह्मचर्य्य के नियमों के प्रतिकूल
है, सादा जीवन तथा पवित्र जीवन ही श्रादर्श जीवन है!

४. स्परी

वेन महोद्य अपनी पुस्तक 'इमोशन्स एएड विल' में लिखते हैं कि 'स्पर्श, प्रेम का आदि और अन्त हैं'। स्पर्श, मनोमादों को जागृत करने का सब से बड़ा साधन है—इस बात को भारत के अगुपि, युरुष के फ़ीरी, मेन्टेगेज़ा, पेन्टा तथा एलिम सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं। स्पर्श का मनुष्य को उत्तेजित करने में इनना भारी असर है कि कई पश्चिमीय लेखकों की सम्मित में वर्तमान सभ्यता की बढ़ती के साथ-साथ साधारण-से स्पर्श को भी नुरा समभा जाने लगेगा। निस्तान्देह सभ्यता में ऐसे युग का आना सभ्यता की गिरावट का ही सूचक होगा, परन्तु, यदि उँची दृष्टि से देखने पर मनुष्य उन्नति के स्थान में अवनित ही कर रहा हो, तब, ऐसे युग का आ पहुँचना आधर्य की बात भी न होगी।

डा॰ व्लोच अपनी पुस्तक 'दि सैजुअल लाइफ़ ऑफ़ आ़ानर टाइम' के ३० ५० पर लिखते हैं:—

"स्पर्श से मानसिक विकार उत्पन्न हो जाने का मुख्य-कारण यह है कि त्वचा के संवेदना-तन्तुओं की रचना तया उत्पादक-श्रंगों के तन्तुओं की रचना एक ही पदार्थ से हुई है, इसलिए प्राणिमात्र के सब श्रवयवों की अपेचा त्वचा का श्रसर मानसिक दुर्भावों को जागृत करने में तत्काल होता है । जो व्यक्ति, स्पर्श की भयानक श्राँधी से बच जाता है वह इस के उन दुष्परिणामों से भी वच जाता है जो उसे श्रन्था बना देने वाले होते हैं।" वालक तया वालिकाओं में प्रायः एक दूसरे को गुद्गुदी करने की आदत देखी जाती है। गुद्गुदी से त्वचा के उत्तेजन द्वारा मनोविकृति का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। वच्चों को इस आदत से बचाना चाहिए। अनावश्यक स्पर्श का कभी न होने देना ही ब्रह्मचर्य का नियम है।

कोमल विस्तरों का भी ब्रह्मचर्य पर बुरा श्रासर होता है। वचों के विषय में डा॰ ब्लाच ने बहुत श्रन्वेपणा की है। उन का कथन है कि बचों को गद्देदार बिस्तरों पर सोने देने से उन के हस्त-मेथुनादि श्रनेक पैशाचिक दुर्ब्यसनों को सीखने की सम्भावना है। इसीलिए ब्रह्मचर्य के नियमों में—'उपिर शय्यां वर्जय'— कोमल, गद्देदार बिस्तरों पर सोने का निषेध किया गया है।

एलिस महोदय अपनी पुस्तक 'मोडेस्टी, सैचुअल पिको-सिटी, ऑटो-इरोटिज़म' के १७५ ए० पर लिखते हैं:—

"कई लेखकों ने लिखा है कि घोड़े की सवारी ब्रह्मचर्च के लिए ठीक नहीं है। घोड़े की सवारी से वीर्य स्वलित हो जाने का ज्ञान कैयोलिक पादिरयों को भी था। प्रक्षों तया ख्रियों में रेल गाड़ी की गित से भी दुण्प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, यह बहुतों का अनुभव है।"

शास्त्रों में, ब्रह्मचारी को उपदेश देता हुआ आचार्य कहता है—'गवाश्वहस्त्युष्ट्रादि यानं वर्जय'—वैल, घोड़े, हाथी, ऊँट आदि की सवारी मत करो। कई जगह तो सवारी मात्र का निषेध किया गया है। ब्रह्मचारी को, जिस तरह से भी हो सके, ब्रह्मचर्य के खिराडत होने से बचाया जाय, यही भाव प्राचीन गुरुत्रों के मस्तिष्क में काम करता रहता था। स्पर्श के विषय में लिखा है:-

'श्रकामतः स्त्रयमिन्द्रियस्परान वीर्यस्वलनं विहाय वीर्य शारीरे संरच्योर्ध्वरेताः सततं भव'—इन्द्रिय-स्पर्श कभी नकरते हुए वीर्य-रचा करो ।

इन उपदेशों को पढ़ कर प्राचीन गुरुओं श्रोर श्राधुनिक गुरुओं में भेद स्पष्ट दील पड़ता है । क्या श्रानकल, गुरुकुली के श्राचार्यों को छोड़ कर, किसी स्कूल श्रयवा कालिन का पिृन्सिपल जनता के सन्मुख खड़े होकर अपने शिष्य को यह उपदेश देने का साहस कर सकता है कि, 'ऐ वालक ! इस संस्या में वीर्य-रज्ञा करना तेरे जीवन का लद्दय होगा!'---नहीं! शिज्ञा का इसे उद्देश्य नहीं समका जाता। पढ़ा लिखा कर, रोटी कमाने लायक बना देने में स्कूल का काम ख़तम हो जाता है। पाचीन गुरुकुलों का उद्देश्य ही एयक् होता था । वालक को संयमी, सदाचारी बनाना उन का ध्येय या । पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं पंरन्तु श्रात्मिक उन्नति को सम्पूर्ण शिज्ञा का लज्य समभा जाता था । यह भेद पाचीन तथा श्राधुनिक शिवाकों के नामों में भी दील पड़ता है। श्राधुनिक शिल्क का नाम 'हेड-मास्टर' 'थां 'पिृन्सिपल' है। 'हेड-मास्टर' का अर्थ है-'मालिक'। 'पूर्निसपल' का अर्थ है— 'मुखिया'। जिन्हें अपने रोव जमाने से छुट्टी न मिलती हो, जो 'मालिकपन' श्रीर 'मुखियापन' के विचारों के नीचे दवे हुए हों, वे आचार की देख-रेख कन करेंगे !

प्राचीन शिवक के लिए शब्द ही 'श्राचार्य' का व्यवहृत होता था। शिवक, मुखिया (गुरु) श्रवश्य था, परन्तु वह 'श्राचार्य' भी था— सदाचार की शिका देना उस का प्रधान-कर्तव्य था।

५. रस

रस में कई विषय मिले हुए हैं। गन्ध, स्पर्श तया रूप का भी इस में समावेश है। गन्धादि विषयों का सेवन ब्रह्मचारी के लिए हानिकर है अतः रसीले पदार्थों का सेवन हानिकर स्वतः हो जाता है। शराब, चाय, काफ़ी, तम्बाकू तथा मिठाईयों का व्यसन सम्यता की उन्नति (१) के साथ उन्नत होता चला जा रहा है। लोग पेटू होते जा रहे हैं। इन सब का ब्रह्मचर्य पर बहुत बुरा असर होता है।

शराव का जीवन के सार-तत्वों को बिगाड़ने में जो हाय है उसे दर्शान के लिए किसी डॉक्टर का प्रमाण देने की आव-श्यकता नहीं । शराबी का नशे में अपने को भूल कर सदाचार के चित्र से कोसों दूर चला जाना रोज की घटना है । हम इस के विषय में कुछ न लिखना ही सब-कुछ लिख देने के बरावर समभते हैं । चाय तथा काफ़ी के भयंकर दुष्परिणामों से सर्व-साधारण परिचित नहीं हैं । हमें पूर्ण विश्वास है कि अनेक व्यक्ति चाय, काफ़ी के बुरे परिणामों से अपरिचित होने के कारण ही उन का उपयोग करते हैं । यथार्थ बात के ज्ञात होते ही वे इन्हें छोड़ने के लिए उद्यत हो जायँगे । डा० ब्लीच का कयन है: "चाय, काफ़ी तथा मोरफ़ीन को ग्राधिक मात्रा में लेन से मनुष्य नणुँसक हो जाता है। इयूबी ने परीज्ञण कर के देखा है कि कई लोग जो दिन में ४-६ बार काफ़ी पीते थे नणुँसक हो गये। काफ़ी छोड़ देने से व ठीक हो जाते ग्रोर शुरू कर देने से फिर नणुँसक हो जाते थे।"

तम्बाकू के विषय में डा॰ कैल्लोंग 'प्लेन फ़ैक्ट्स' में लिखते हैं:-

'मनुष्य के ग्राचार पर तम्बाकू का क्या ग्रसर होता है इस बात को बहुत थोड़े लोग जानते हैं। वचपन में इस दुर्व्यसन के लग जाने से शीघ्र-ही कुवासनाएँ प्रदीप्त हो उठती हैं ग्रीर कुछ ही वर्षों में सदाचारी तथा पित्र युवक को काम-वासनार्थ्यों का ज्वालामुखी बना देती हैं। उस के ग्रन्तः करण की धवकती हुई कुवासनार्थ्यों की ज्वालाग्रों से ग्रश्लीलता तथा दुराचार का काला धुश्राँ निकलने लगता है। देर तक तम्बाकू का प्रयोग करते रहने से नपुँसकता ग्रा पहुँचती है।"

मिठाईयों का शौक कुप्रवृत्तियों का कारण और परि-णाम दोनों ही है। डा० क्लीच 'सैचुअल लाइफ, श्रॉफ आवर टाइम' के ३४ ए० पर लिखते हैं:—

"मिठाईयों के लिए शौक का कुप्रवृत्तियों के साथ सम्बन्ध है। जो बच्चे मिठाईयों के बहुत शौकीन होते हैं उन के गिरने की बहुत अधिक सम्भावना बनी रहती है और वे दूसरे बच्चों की अपेक्षा हस्त-मैथुनादि कुकमों की तरफ अधिक कुकते हैं।" पेट्रान श्राजकल की नई वीमारी हैं। इस कथन में कोई श्रात्युक्ति नहीं कि वर्तमान युग में भूख से इतने लोग नहीं मरते जितने पेट्रपन से मरते हैं। वीर्य-रज्ञा न करने का श्रवश्यम्भावी पिरिणाम पेट्रपन है। दुराचारी व्यक्ति का रसनेन्द्रिय पर वशं नहीं रहता। पेट भरे रहने पर भी उस की भूख नहीं मिटती श्रोर वह सदा श्रावश्यकता से श्राधक खा जाता है। उपवासे करना उस के लिए श्रसम्भव-सा जान पड़ता है। डा॰ केल्लींग लिखते हैं कि पेट्रपन सदाचार का रात्रु है। श्रिधक खा जाने से वीर्य-नाश होना निश्चित है, इसलिय जितनी भूख लगी हो उस से छुड़ कम ही खाना चाहिये।

व्रस्तर्य के प्राचीन नियमों में इस सिद्धान्त को प्रधानता ही गई थी कि हमारा मन भोजन से बनता है । उपनिपद् में लिखा है—'श्रन्नमयं हि सोम्य मनः' । सात्विकाहार के लिये जगह-जगह प्रेरणा की गई है । ब्रह्मचारी को गुरुकुल में प्रविष्ट करता हुआ आचार्य कहता है:—'तेलाम्यङ्गविमर्दनात्यम्लाति-तिक्तकपायद्वाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्तं — बहुत खट्टे, तीखे, नमकीन पदार्थ मत खाना, राजिसक भोजन से कुसंस्कार जाग उठते हैं । बहुत बार भोजन करने का निषेध करते हुए प्रातः-साय दो ही बार ब्रह्मचारी के लिए भोजन का विधान किया गया है । मनुरमृति में ब्रह्मचर्य के प्रकरण में ब्रह्मचारी को नीरोग तथा स्वस्य रहने के लिये किस प्रकार का भोजन करना चाहिये इस पर लिखा है:—

"सायं प्रातप्रद्वि जातीनामशनं स्मृतिनोदितम्। नान्तरे भोजनं कुर्याद्ग्रिहोत्रसमोविधिः॥ अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्यंचातिभोजनम्। अपुर्यं लोकविद्विष्टं तसान्तत्परिवर्जयेत्॥" वर्तमान गवेषकों के उक्त अनुभवों से रपष्ट है कि ऋषियों ने ब्रह्मचर्य्य के लिये जिन नियमों का निर्माण किया था उन के आधार में बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त काम कर रहे थे!

खवसंहार

अपरता का सन्देश एक महान सन्देश है—यह जीवन का, अमरता का सन्देश है। यह प्राचीन भारत का सन्देश है। हिमालय के गगन-भेदी शिखर से, गंगा श्रीर यमुना की अनवरत उउने वाली ध्वनि से, सगुद्र की श्रयाह नीरवता से, काननों की दुभेंच निर्ननता से तपस्यामय जीवन विताने वाले प्राचीन ऋषियों का सन्देश मुक्ते सुनाई दे रहा है,—श्रीर वह है, 'ब्रह्मचर्ध्य'! इस सन्देश को सुननं वाले श्रात्माश्रों की भारत-माता को ज़रूरत है।

'व्रत्यचर्य' एक चार यन्नरों का छोटा-सा शब्द है परन्तु इस में जो भाव थ्रा जाते हैं उन का सीवाँ हिस्सा भी इन २४० छां में नहीं लिखा जा सका। वीर्य-रन्ना, 'व्रह्मचर्य्य' का स्थूल रूप है; 'व्रह्मचर्य्य' वीर्य-रन्ना से वहुत-कुछ ज़्यादह है—बहुत-कुछ ज़्यादह है 'व्रह्मचर्य्य' एक व्यापक शब्द है। 'व्रह्मचर्य्य' का अर्थ है—शक्तियों का संग्रह करना, उन्हें विखरने न देना, उन्हें श्रपनी उन्नित में लगाना। व्यक्ति को ही नहीं, समाज को भी व्रह्मचर्य्य की ज़रूरत है। हमारा समाज विखरा हुआ है, वह शक्ति-हीन हो चुका है—इस का यही अभिप्राय है कि समाज में ब्रह्मचर्य्य की शक्ति नहीं रही। व्यक्तियों को, समाजों को, देगों करे, ब्रह्मचर्य्य की ज़रूरत है—बड़ी भारी ज़रूरत है, क्योंकि ब्रह्मचर्य्य से ही शक्ति का संचय हो सकता है। इस:

समय जब कि चारों तरफ़ असमर्थता, शक्ति-हीनता तया द्वय के लक्कण दिखाई दे रहे हैं, जब कि जीवन की बत्ती बेग से जल रही है क्योंकि वह शीघ्र-ही बुम्ता चाहती है—इस समय उत्साह-हीन, जीवन-हीन, निराश समाज के लिये केवल एक सन्देश है—'ब्रह्मचर्ट्य'! 'ब्रह्मचर्ट्य'!! 'ब्रह्मचर्ट्य'!!!—'चौमुखा-ब्रह्मचर्ट्य'—केवल शरीर का नहीं, मन का, आत्माका, समाज का, देश का,—सब का 'ब्रह्मचर्ट्य'।

नव-युवको ! इस सन्देश को कान खोल कर सुनो । इस विचार में पागल हो जायो, तुम पागल होते हुए भी सही दिमाग़ वालों से कहीं अच्छे होगे ! शक्ति को विखरने मत दो, नहीं तो पीछे से पछतायोगे । इन पृष्ठों में ब्रह्मचर्य्य के केवल एक स्वरूप पर ही लिखा गया है, क्योंकि इस समय शायद इसी की सब से ज्यादह ज़रूरत है । वीर्य-रच्चा करो, क्योंकि वीर्य-रच्चा करना ब्रह्मचर्य के जीवन के लिये पहला कदम है । खुद मत गिरो श्रीर हद संकल्प कर लो कि अपने श्रास-पास के किसी नौ-जवान को गिरने नहीं दोगे । हरेक नौ-जवान भारत-माता का लाल है; माता को उस की ज़रूरत है; प्यारो ! नौ-जवान तो भारत-माता की सम्पत्ति हैं, उन्हें लुटने मत दो ।

में जानता हूँ, नव-युवक इस सन्देश के लिये तरस रहे हैं। मेरे पास नव-युवकों की जो चिट्ठियाँ श्रायी पड़ी हैं उन से मुक्ते पूरा विश्वास हो गया है कि युवक इस सन्देश के लिये लालायित हैं। एक युवक हज़ारीवाग से श्रपनी चिट्ठी में लिखता

है:— 'मैंने आप की श्रंग्रेज़ी में लिखी व्रसचर्य-विषयक पुस्तक को पट्टा, और वार-वार पट्टा । इसे पट्ट कर मेरी श्राँखें खुलीं । हाय ! में कितना श्रभागा था, मुभे तो अव-तक कुछ मालूम हीं न या । मैंने आप की पुस्तक अपने सब छोटे भाइयों, भानजों श्रोर भतीजों को मंगा कर दी है । मैं चाहता हूँ कि यह पुस्तक हरेक हाई-स्कृल में हरेक लड़के के लिये पढ़ना लाज्मी हो जाय ।' दूसरा युवक श्रकोला से लिखता है:--'मैंने ब्रह्मचर्च्य पर ऐसी पुस्तक अब तक नहीं पढ़ी थी । मैं ऐसी पुस्तक की ही तलाश में था । आप की पुस्तक को पढ़ने से मालुम होता है कि आप के हृदय में नव-युवकों के लिए तहपन है। में एक विषय-समस्या में फँसा हुआ हूँ। आप ऋषा कर मुभे इस में से निकालिये। मेरे पिता बड़े धनी हैं। व मुभी ज़ब-र्दस्ती मिठाइयाँ खिलाते श्रीर चाय पिलाते हैं — मैं इन्कार करूँ तो व मुक्ते वनात हैं। मैं जानता हूँ कि इन चीज़ों के खाने से मेरे स्वास्थ्य पर बुरा श्रासर पड़ता है पर वे नहीं मानते । क्या कृपा कर श्राप उन्हें इस विषय में लिख कर सममाने का कष्ट उटा सर्केंगे !' एक और युवक वम्बई से लिखता है:--'मेरा एक मित्र ४-६ वर्ष से बुरी आदर्तों का शिकार है । अचानक श्राप की पुस्तक उस के हाय में पड़ गई । इसे पढ़ने पर वह प्रतिज्ञा करता हैं कि आगे से वह कभी अपने आतमा को गिरने नहीं देगां । पीछे जो कुछ हुआ उस पर वह पछताता है । क्या श्राप उस के आत्मा को शान्ति देने के लिये नीचे के पते पर पत्र

लिख सकेंगे ?' ऐसा ही एक युवक लाहोर से लिखता है:—
'मैंने आप की पुस्तक पढ़ी। इस ने मेरे जीवन में क्रान्ति मचा दी
है और मुफ्त में आश्चर्य-जनक परिवर्तन ला दिया है। ओह!
मैं कितना चाहता हूँ कि यह पुस्तक कुछ पहले मिल गई
होती!'—ये तथा ऐसे ही सैंकड़ों पत्र मेरे सामने पड़े हैं।
क्या इन के होते हुए भी मैं यह न समसूँ कि नव-युवक
इस सन्देश को सुनने के लिए तरस रहे हैं। नव-युवको! इस
सन्देश को सुनने के लिए तरस रहे हैं। नव-युवको! इस
सन्देश को सुनो, यह मेरा सन्देश नहीं, अप्रूपियों का सन्देश
है। इस सन्देश की गूँज से देश का कोना-कोना गुँजा दो।
प्रण कर लो कि स्वयं ब्रह्मचारी रहोगे और जिस युवक के सम्पर्क
में भी आयोगे उस के कान में इस मन्त्र को ज़रूर फूँक दोगे!

इस से पहले कि मैं पाठकों से विदा लूँ, एक बात लिख देना आवश्यक समक्षता हूँ। ब्रह्मचर्ध्य की चर्चा जितनी पञ्जाव तथा युक्त-प्रान्त में है इतनी शायद अन्यन्न कहीं नहीं, परन्तु मुक्ते दुःख है कि इन्हीं प्रान्तों के लोगों में ब्रह्मचर्ध्य के विषय में ऐसे अम-पूर्ण विचार फैले हुए हैं जिन का निराकरण करना ब्रह्मचर्ध्य की महिमा के गीत गाने की अपेन्ना भी अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। सर्व-साधारण में यह विचार घर कर चुका है, और दिनोंदिन करता चला जा रहा है, कि ब्रह्मचर्ध्य सब रोगों की एक महीषभ है। किसी को जुकाम हुआ नहीं कि भट उन्हों ने बेचारे रोगी के आचार पर सन्देह किया नहीं!

जैसा पहले भी लिला जा चुका है, ऐसे लोगों के कारण ही 'ब्रह्मचर्थ्य' बदनाम हो चुका तथा हो रहा है। ब्रह्मचर्थ्य के महान् विपय पर बोलने का अधिकार उन्हीं लोगों को है जिन्हों ने इस विपय को भली-भांति समभा हुआ हो। ब्रह्मचर्य्य का नाम लेकर चिछाने वालों में से बहुत से ब्रह्मचर्य्य की महिमा को बढ़ाने के स्थान पर उसे घटाने में सहायक वन रहे हैं क्योंकि, स्मरण रहे, किसी कार्य की हानि अन्य उपायों से इतनी नहीं होती जितनी उस के ख़क्स को न समभा कर उस के साथे अन्धे प्रेम से !

इस में सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य से शारीरिक वृद्धि होती है। इस में भी सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य की शक्ति बड़ी है। परन्तु यह वात विल्कुल गुलत है कि ब्रखचारी पतला नहीं हो सकता, वह पहलवान ही होना चाहिये। हाँ! ब्रह्मचर्य और दुर्व-लता का साय नहीं ; दुर्वलता का कई मौकों पर अर्थ ही ब्रह्मचर्य का श्रभाव होता है, परन्तु इस से यह परिणाम निकालना कि मसचारी पतला नहीं हो सकता, सर्वया भ्रम-मूलक है । ब्रह्मचर्य का श्रर्य शक्ति है, किया-रीलिता है, तत्परता है, उत्साह है, श्रोजस्विता है, सहन-शीलता है। इस का श्रर्थ मोटापन नहीं, पहलवानी नहीं, शरीर में मांस या वज़न का वढ़ जाना नहीं । वे लोग वड़ी भूल करते हैं जो किसी व्यक्ति को कार्य-शील तथा खस्य देख कर भी केवल उस के पतले होने के कारण अपने दिमागृ में तरह-तरह की कल्पनाएँ करने लगते हैं। वे ब्रह्मचर्य्य का नाम लेते हैं, परन्तु उस के रहस्य को नहीं समक्तते ।

٠,

मोटे ब्रादिमयों भी संख्या दुनियाँ में कम नहीं। वेठे रहने से मुटापे को छोड़ कर श्रीर क्या श्रायगा ? परन्तु इस से मोटे श्रादमी को श्रादर्श ब्रह्मचारी समम्त लेना श्रीर शारीर से पतले दिखने वाले व्यक्ति को व्यभिचारी समभाना ब्रह्मचर्य के तत्व को ही न समकता है। अथर्ववेद के ११ वें काएड का ५ वाँ सूक्त 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' है। इस सूक्त में जहाँ पर भी ब्रह्मचर्य का नाम श्राया है वहाँ साथ में 'तप' का नाम भी मौजूद है। २६ मंत्रों के इस सूक्त में १५ वार 'तप' शब्द को दोहराया गया है। 'स श्राचार्यं तपसा पिपति', 'ब्रह्मचारी वर्भ वसानस्तपसोदितिष्ठत्', 'रचित तपसा बहाचारी' — इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र में तप की मुहारनी जपी गई है। तप से मुटापे का वही सम्बन्ध है जो ३ का ६ से। इसलिए ब्रह्मचर्च्य से जो लाभ होते हैं उन के विषय में सोचते हुए सदा घ्यान रखना चाहिये कि ब्रह्मचर्य शारीरिक स्वास्थ्य देता है, सहन-शक्ति, उत्साह तया साहस देता है ; ब्रह्मचर्य से मानसिक शक्तियों का विकास होता है, श्रात्मा उनति के मार्ग पर चलने लगता है ; ब्रह्मचर्य का यही दावा है— दूसरा कुछ नहीं।

इस के श्रातिरिक्त यह भी न भूलना चाहिये कि संसार में किसी भी बात के श्रानेक कारण हो सकते हैं। इस में सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्च्य खास्य्य देने तथा जीविनी-शक्ति के सञ्चार करने वाला बड़ा भारी कारण है, शायद सब से बड़ा; परन्तु यह समम बैठना कि यही एक कारण है, और कोई कारण है ही नहीं, बड़ी

भारी भूल है। मंतार में भयंकर-ते-भयंकर रोग हैं, श्रीर कई तरह के रोग हैं, छूत से लग जाने वाले रोग भी हैं, ब्रह्मचारी तथा व्यभिचारी दोनों को ही ने सता सकते हैं। कई रोग माता-पिता से भा सकते हैं और साजन्म-अजनर्ध्य भी उन्हें दूर नहीं कर सकता । वहं लोग सत्र नियमों का पालन करते हुए भी दुवले-पतले होते हैं, वहीं श्रचानक सम्पत्ति मिल जाने पर हृष्ट-पृष्ट, तरोतामे हो जाते हैं। कहीं हवा ख़राब, कहीं पानी ख़राब, कहीं भोजन खराब, कहीं निर्धनता-भिन्न-भिन्न कारण संसार में काम करते हैं परन्तु बहुधा परिगाम एक ही पाया जाता है। इमिल्ये 'ब्रह्मचर्य' के गीत गाने वाले को सदा स्मरण रखना नाहिये कि वह जब 'ब्रह्मचर्च्य' राज्द का प्रयोग नीर्य-रक्षा के श्रर्थों में करता है तब वह जीविनी-शक्ति के केवल एक कारण पर ही विचार कर रहा होता है, चाहे वह कारण कितना ही महान् क्यों न हो । यही दृष्टि वास्तविक है, सत्य है !—हाँ, इस में सन्देह नहीं कि जीवन के सम्बन्ध में जो नियम काम करते हैं, उन में सब से बड़ा नियम ब्रह्मचर्य है ; यही भारत के प्राचीन तपस्त्रियों का दावा है, श्रीर यही इस युग में नव-जीवन का सञ्चार करने वाले आदित्य-त्रसचारी ऋषि दयानन्द का सन्देश है !

सहायक-पुस्तक-सूची

[BIRLIOGRAPHY]

इस पुस्तक के लिखने में जिन पुस्तकों से सहायता ली गई. है उन में से मुख्य-मुख्य पुस्तकों निम्न-लिखित हैं;—

- १. अधर्व वेद
- २. अपाह हदय-वाग्भट्ट प्रणीत
- ३. 'चाँद' का वेश्या अङ्क
- **ध. दस उपनिपदें**
- ५. भाव प्रकाश—भावमित्र कृत
- ६. मनुस्मृति-मनु-प्रणीत
- ७. सत्यार्थं प्रकाश—ऋपि दयानन्द कृत
- ८. सुध्रुत संहिता—सुध्रुताचार्य प्रणीत
- ६. संस्कार विधि-ऋषि दयानन्द कृत
- 10. Bain: Emotions and Will
- 11. Bloch, Dr. : Sexual Life of our Time
- 12. Burman, Donis, Dr. :

The Glands Regulating Personality

- 13. Cocks, Orrin G.; Sex Education Series
- 14. Cowan : The Science of A. New Life
- 15. Dayson : Causation of Sex ...
- 16. Davis, Jackson : Answers to Ever-Recurring Questions from the People
- 17. Elis, Havelock: Erotic Symbolism
- 18. _Modesty, Sexual-Precocity and Auto-Erotism.

- 19. Elis, Psychology of Sex
- 20. —Sexual Selection in Man.
- 21. Foote, Dr. : Home Cyclopedia
- 22. Geddes & Thomson: The Evolution of Sex
- 23. Grey: Anatomy
- 24. Gullick, Luther H. Dr.: Dynamics of Manhood
- 25. Hall, Winfield S.: From Youth into Manhood'
- 26. —Reproduction & Sexual Hygiene
- 27. Halliburton: Physiology
- 28. James, William: Principles of Psychology
- 29. —Varieties of Religious Experiences
- 30, Kellog, Dr. : Living Temple
- 31. -Plain Facts
- 32. Kieth, Dr. :: Seven Studies for Youngmen
- 33. Lowson: Text-Book of Botany
- 34. Madras Publication: The Sexual Science
- 35. Moll, Albert: Sexual Life of the Child
- 36. Macfaden: Encyclopedia of Physical Culture.
- 37. Manhood and Marriage
- 38. Reeder, David H.: Sex Lessons of a Physician
- 39. Shelling: Natural Philosophy
- 40. Stall, Dr.: What a Young Boy Ought to Know
 - 41 White Trong Husband Ought to Know
- 42. Stobes. Marie: Maried Love

इस पुस्तक पर कुछ सम्मतियाँ

men have not cried in the agony of shame and self-pity, "Oh, if I could get this knowledge in my early days." But it is never too late to mend and to such youngmen this excellent book will give a new hope as it will be a timely warning to those who are still in innocent ignorance... It should be translated in every Indian language, for it is a book which every youngman and woman should read.

author undertakes to address youngmen on a most delicate topic, viz., that of sexuality. He takes the greatest care to avoid the possibility of any immoral association arising from a perusal of this book.....

The writer is an advocate of Brahmacharya the cause of which he pleads with convincing force.....

Youngmen with a serious outlook on life will necessarily be benefitted by a study of Prof. Satyavrats's Confidential Talks.

rendered a very valuable service to the student community of India particularly, in writing this highly useful and interesting book. The very first chapter puts forth very lucidly the circumstances which necessitated such a task being undertaken. If seriously studied the book is sure to yield immense

good to the reader and repay more than its cost. The very fact that the book contains a foreword from the pen of no less a person than Swami Shraddhanand is a very strong recommendation in itself.

PRATAP Lahore: The learned author has ably thrown a flood of light in this book on the most difficult and important subject of Brahmacharya. It contains thirteen instructive chapters, each full of practical lessons on Brahmacharya. The book is immensely useful to Youngmen for whom it is intended. The speciality of the book lies in its charming and captivating style which makes it a very interesting and delightful reading.

चाँद—इस में सन्देह नहीं कि, ग्राचार्य थो० सत्यव्रत जी ने इस पुस्तक को लिख कर वास्तव में मातृ-भूमि की एक महान्य सेवा की है। ग्राप ने एक सर्वोपकारी थिपय को ग्रापंज़ी-भाषा में प्रकट कर के प्रेम-एज्जु में गुंथे, ग्रायेथ दर्मित को चीर्य-रचा का महत्य दिखा कर—महाचर्य की महिमा की ग्रोर उन का व्यसनासक चिक्त ग्राकर्षित किया है ग्रीर एक नारी ब्रह्मचारी' की कहावत को चिरतार्थ किया है। इस कार्य के लिए प्रध्यापक महोव्य धन्यवाद के पात्र हैं।..... कहने का तात्वर्थ यह है कि इस पुस्तक में पाँचों जानेन्द्रियों द्वारा होने वाले प्रभावों का वर्णन करते हुए हमारे चित्रार्थ द्वारा वर्णित तत्त्रम्बन्धी संयमों का बड़ी योग्यता से प्रतिपादन किया है।..... पुस्तक ग्राप्त देंग की ग्रानुठी है। इस का चौथा ग्राध्याय मनन करने योग्य है। इस में वीर्य-कोश, स्कोटम, लोमरस, स्पर्मटीज़ोग्रा, ग्रोवम, टेसटीज़ ग्रादि विषय की प्रशंसनीय विवेचना की गई है। समाने का दंग ग्राच्छा है। प्रमाण की भी कमी नहीं है। ग्रास्तीय मत का भी निदर्शन ग्राच्छा किया है। जिस-जिस विषय के जान में पश्चिमीय विवेदान पिछा है। इस का भी संकेत कर हिया है!



. Printed By Ch. Hulas Rai Gurukula University Press, Kangri.